मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 75 ● वर्ष 8, अंक 12 ● फ़रवरी 2019 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

# मज़दूर बिगुल

बाल कुपोषण : सरकारों की आपराधिक उदासीनता 10

देश काग़ज़ पर बना नक्शा नहीं होता 15

बजट : जुमलों की भरमार में मेहनतकशों के साथ ठगी का दस्तावेज़ 16

## देशभक्ति के नाम पर युद्धपिपासु अन्धराष्ट्रवाद किसके हित में है?

# अन्धराष्ट्रवाद और नफ़रत की आँधी में बुनियादी सवालों को खोने नहीं देना है!

कश्मीर के पुलवामा में हुए आतंकवादी हमले में सीआरपीएफ़ के 40 से अधिक जवानों की भीषण मौत पर देश भर में शोक और ग़ुस्से की लहर है। ऐसी घटनाओं में मरने वाले सभी आम घरों के बेटे होते हैं। ऐसी घटना होने के बाद कोई भी संजीदा सरकार और समाज ऐसी घटना के दोषियों को सज़ा देने और साथ ही घटना के कारणों के बारे में सोचेगा और कार्रवाई करेगा। लेकिन वास्तव में क्या हो रहा है?

चारों तरफ़ बस बदला-बदला और युद्ध-युद्ध की पागलपन भरी चीख़-चिल्लाहट और अपने ही देश के आम लोगों पर हमले, गालियाँ और धमकियाँ। वो कौन लोग हैं जनता के एक हिस्से को जनता के दूसरे हिस्से के ख़िलाफ़ भड़का रहे हैं? दूसरों को राजनीति न करने की सीख देकर ख़ुद इस त्रासदी का इस्तेमाल वोटों की फसल काटने के लिए करने में जुट गये हैं?

लगातार महँगाई, बेहिसाब बढ़ती बेरोज़गारी, और राफ़ेल सहित भ्रष्टाचार के अनेक मामलों में बुरी तरह फँसने, हिन्दुत्व के नाम पर गुण्डागर्दी और नफ़रत फैलाने की खुली छूट और छात्रों-युवाओं-किसानों-मज़दूरों के आन्दोलनों के दमन तथा विरोध में बोलने वाले बुद्धिजीवियों का गला घोंटने की हरकतें मोदी सरकार के जनविरोधी चरित्र को नंगा कर चुकी थीं और साम्प्रदायिक जुनून पैदा करने के सारे दाँव भी फुस्स पटाखा साबित हो रहे थे। राम मन्दिर का मुद्दा गरमाने की कोशिशें भी टाँय-टाँय फिस्स हो चुकी थीं। ऐसे में सीमा पर तनाव और युद्धोन्माद भड़काना फ़ासिस्टों का पुराना आज़माया हुआ नुस्खा है। अनेक लोग ऐसा अन्देशा

**सम्पादक मण्डल**

प्रकट कर रहे थे कि चुनाव के पहले युद्धोन्माद पैदा करने की कोशिश मोदी सरकार और संघ परिवार का आख़िरी हथकण्डा हो सकता है। इस घटना के तुरन्त बाद से ही पूरी नंगई के साथ इसे चुनाव में भुनाने के लिए मोदी सहित सारी भाजपा और तमाम संघी संगठन जुट गये हैं। अपने वर्ग चरित्र के हिसाब से सभी चुनावबाज़ पूँजीवादी पार्टियों और नकली वामपंथी पार्टियों ने भी फ़ौरन सरकार के साथ खड़े होने का ऐलान कर दिया और बुनियादी सवालों पर चुप्पी साधकर भाजपा को अपना खेल खेलने के लिए खुला मैदान सौंप दिया। आतंकवादी घटना के डेढ़ घण्टे बाद मोदी का रुद्रपुर में चुनावी भाषण हो रहा था और उसके बाद से लगातार चुनावी रैलियाँ जारी हैं। बेशर्मी की हद यह थी कि सर्वदलीय बैठक बुलाकर खुद उसमें शामिल होने के बाद प्रधानमंत्री महाराष्ट्र में चुनावी रैली करने निकल गये।

**यह घटना जिस ढंग से हुई और जिस योजनाबद्ध ढंग से इसका चुनावी लाभ उठाने की कोशिश की जा रही है वह गहरे सन्देह को जन्म दे रहा है।**

टीवी ऐंकरों से लेकर फ़िल्मी सितारों और मध्य वर्ग के निठल्लों तक, अपने आरामदेह कमरों में बैठकर जंग छेड़ देने, आग लगा देने, पाकिस्तान को तबाह कर देने की चीख़-पुकार मचाये हुए हैं। लेकिन यह बुनियादी सवाल कोई नहीं पूछ रहा कि इतना बड़ा हमला हुआ कैसे? ख़ुद सेना की रिपोर्टें बताती हैं कि पिछले साढ़े चार सालों में कश्मीर के हालात बदतर हुए हैं। आतंकवादी हमलों की घटनाएँ भी बढ़ी हैं और मरने वालों की संख्या भी। इस घटना से चन्द दिन पहले ख़ुफ़िया रिपोर्ट में आईईडी से हमले की चेतावनी जारी की गयी थी। फिर भी सीआरपीएफ़ का इतना लम्बा कॉनवॉय रवाना किया गया और सुरक्षा की सामान्य बातों की भी अनदेखी की गयी। सीआरपीएफ़ ने गृह मंत्रालय से अपने जवानों को हवाई मार्ग से कश्मीर भेजने की अनुमति माँगी थी लेकिन उसे भी नामंज़ूर कर दिया गया था। जिस इलाक़े में सिविलियन आबादी और गाड़ियों की सघन जाँच होती है और जगह-जगह बैरिकेड लगे हैं वहाँ इतनी भारी मात्रा में विस्फोटक कैसे इकट्ठा हो गया? सीआरपीएफ़ के काफ़िले की सटीक जानकारी कैसे मिली और इतनी आसानी से एक कम उम्र नौजवान गाड़ी

(पेज 6 पर जारी)

# बेरोज़गारी की विकराल स्थिति और सरकारी जुमलेबाज़ियाँ व झूठ

## रोज़गार गारण्टी क़ानून के लिए एक जुझारू और व्यापक जनान्दोलन खड़ा करना होगा

काम का अधिकार वास्तव में जीने का अधिकार है। अगर आपके पास पक्का रोज़गार नहीं है, तो आपका जीवन आर्थिक और सामाजिक रूप से असुरक्षित है। **देश में आज बेरोज़गारी की हालत चार दशकों में सबसे ख़राब है।** एक ओर सरकार और उसका ज़रख़रीद कॉरपोरेट मीडिया अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर पर तालियाँ बजा रहे हैं, तो दूसरी ओर देश के आम मेहनतकश लोग बेरोज़गारी के कारण ख़ाली थालियाँ बजा रहे हैं।

सरकारी आँकड़ों के पैमाने और उनको जुटाने का तरीक़ा जानबूझकर ऐसा बनाया गया है कि बेरोज़गारी को कम करके दिखलाया जा सके। इसके बावजूद **राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन की हाल की रिपोर्ट के अनुसार देश में इस समय बेरोज़गारी दर पिछले 45 साल का रिकॉर्ड तोड़कर 6.1 प्रतिशत हो चुकी है। रोज़गारशुदा लोगों में भी 93 प्रतिशत लोग ठेका, दिहाड़ी, कैज़ुअल कामगारों के रूप में काम कर रहे हैं।** इन मज़दूरों और कर्मचारियों को रोज़गार की कोई सुरक्षा प्राप्त नहीं है। इनके मालिक (जिनमें सरकारी विभाग भी शामिल हैं) इन्हें कभी भी काम से बाहर कर सकते हैं। क्या माना जा सकता है कि इन लोगों के पास सुरक्षित रोज़गार है? नहीं! लेकिन जिस सरकार के नेता पकौड़ा तलने, पान-गुटखा बेचने को रोज़गार बताते हों, उससे यह उम्मीद करना बेकार है कि वह रोज़गार की सच्चाई को स्वीकार करे।

सच्चाई यह है कि हमारे समाज में आज बेरोज़गारी विकराल रूप धारण कर चुकी है। देश के करोड़ों बेरोज़गारों में से अनेक चौतरफ़ा निराशा का शिकार होकर आत्महत्या करने की ओर धकेल दिये जाते हैं। लेकिन जो आत्महत्या नहीं करते, वे सब कैसे जीते हैं? वे कभी एक तो कभी दूसरा छोटा-मोटा काम करके किसी तरह ग़रीबी, कुपोषण और भुखमरी के हालात में जीते रहते हैं; कोई अमीरज़ादों की कालोनियों में गाड़ियाँ धोता है, कोई फुटपाथ पर चादर बिछाकर गुटखा-सिगरेट बेचता है, तो कोई घरों में अख़बार डालने

(पेज 8 पर जारी)

**बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!**

## आपस की बात

सम्पादक जी,

मैं बारहवीं कक्षा की विद्यार्थी हूँ। मैं हर माह में आने वाला बिगुल अखबार पढ़ती हूँ। मुझे अच्छा लगता है कि इसमें आज के वक्त में मज़दूरों के साथ हो रहे शोषण के विरुद्ध चेतना जागृत करने के लिए एक क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाया जा रहा है। इसमें मार्क्सवाद के सिद्धान्त को सही रूप में बताया गया है। मैंने इसमें चीन द्वारा प्रदूषण की समस्या का मुकाबले करने के बारे में भी पढ़ा जो मुझे अच्छा लगा। सरकार द्वारा बैंकिंग व वित्तीय सेक्टर के घपले-घोटालों के बारे में भी अच्छा लिखा गया है। मैं सभी को कहना चाहूँगी कि जो अच्छे से पढ़ना जानते हैं या थोड़ा कम भी पढ़ना जानते हैं उन्हें यह अखबार जरूर पढ़ना चाहिए।

**– अंशी शाही, लुधियाना**

# जुमलों की भरमार में मेहनतकशों के साथ ठगी का दस्तावेज़

**(पेज 16 से आगे)**

में असफल है जिससे डूब गये क़र्ज़ से वित्तीय क्षेत्र भी संकट में घिरा हुआ है। इसलिए अपनी पूँजी पर मुनाफ़े की कमी से जूझते बैंक ऋण पर ब्याज़ दर कम करने में ख़ुद को नुक़सान में पा रहे हैं। एचडीएफ़सी के दीपक पारीख ने तो उसी दिन ही रोना-धोना शुरू कर दिया। ख़ुद सरकारी एसबीआई ने ब्याज़ दरें नहीं घटायीं। असल में मुनाफ़ा दर में गिरावट से पैदा पूँजीवाद का संकट ब्याज़ दरों में इस कमी से नहीं सुलझ सकता।

बजट पर वापस आयें तो अगर कुछ भरमाने-ललचाने वाले ऐलान हैं तो निश्चय ही कहीं पर कटौती भी की ही जानी थी। सिर्फ़ एक शिक्षा का उदाहरण लेते हैं। 2014-15 से 2019-20 के बजट में स्कूली शिक्षा पर ख़र्च 3% घट गया। मुद्रास्फीति को जोड़ें तो इन सालों में यह सम्भवतः एक तिहाई कम हो गया। अब ये कुल जीडीपी का आधे % से भी कम 0.45% रह गया है। इसी तरह 2014-15 में शिक्षकों के प्रशिक्षण का बजट 1158 करोड़ रुपये था। 2019-20 के लिए यह बस 150 करोड़ ही है। मात्र 87% की कटौती! यही स्थिति अन्य समाज कल्याण कार्यक्रमों की है। वास्तविकता तो यह है कि शिक्षा पर अब बजट से कोई ख़र्च नहीं होता, व्यक्तिगत/कॉर्पोरेट आयकर से जीएसटी तक पर एक शिक्षा सेस लगता है। इस बार के बजट में जितना कोष इस सेस से एकत्र होगा, वह भी पूरा शिक्षा पर ख़र्च नहीं होगा।

दूसरी ओर, ख़र्च कहाँ से होगा इस पर भी नज़र डालते हैं। ख़ुद पीयूष गोयल ने ही बजट घाटे का अनुमान बढ़ाकर 3.4% कर दिया, लेकिन नवम्बर तक के सामने आये आँकड़े और बजट के ऐलान बताते हैं कि यह और भी ज़्यादा होने वाला है। जीएसटी से वसूली में 23% वृद्धि का अनुमान पिछले बजट में था, पर अब यह घटकर 6% ही रह गया है। जीएसटी से कुल वसूली बजट अनुमान से 1 लाख करोड़ रुपये कम है। अन्य आय अनुमान भी लक्ष्य से नीचे हैं, जबकि ख़र्च के बड़े ऐलान इसमें जुड़ गये हैं। बजट घाटे को कम दिखाने के लिए सरकार ने अन्य कई चालाकियाँ भी दिखायी हैं। जैसे कर वसूली में राज्यों का हिस्सा घटा दिया गया है। फिर सरकार अपने क़र्ज़ों को सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों के नाम पर लेकर अपना क़र्ज़ कम दिखा रही है। खाद्य निगम ही इसका एक बड़ा उदाहरण है जिसे खाद्यान्न ख़रीद का मूल्य सरकार द्वारा देने के बजाय बैंक क़र्ज़ से चुकाने को कहा गया है। एक सरकारी कम्पनी द्वारा दूसरी को ख़रीद कर सरकार को क़ीमत चुकाना भी ऐसी ही जादूगरी है जो ओएनजीसी व पीएफ़सी दोनों से करवायी जा चुकी है। 13 फ़रवरी के इण्डियन एक्सप्रेस में अमर्त्य लाहिरी द्वारा लगाये गये हिसाब के अनुसार केन्द्र, राज्यों व सार्वजनिक कम्पनियों को जोड़ा जाये तो कुल घाटा 8% तक पहुँचने का अनुमान है।

फिर घाटे को इस तरह छिपाये जाने का नतीजा क्या होगा? साधारण जमा-घटा का हिसाब कहता है कि इसका एक ही नतीजा मुमकिन है। भरमाते-ललचाते ऐलानों वाले 'नक़ली' बजट का पूरा बदला चुनाव बाद के 'असली' बजट में निकाला जायेगा, जिसमें आम लोगों के लिए सुविधाओं पर ख़र्च में भारी कटौती होगी, नये-नये कर लगेंगे, नयी-नयी वसूलियों की योजनाएँ होंगी। ये साल इस देश की मेहनतकश जनता के लिए बहुत भारी होने वाला है। इसकी योजनाएँ अभी से बनकर तैयार हैं। चुनाव बाद मेहनतकश जनता को कैसे बेदर्दी से लूटा जायेगा, उसकी स्कीमें तैयार करने में पूँजीवादी व्यवस्था के प्रबन्धक अभी से जुटे हैं। इनमें से एक स्कीम की ख़बर तो किसी तरह अभी से बाहर आ गयी है। 6 फ़रवरी के बिज़नेस स्टैण्डर्ड के अनुसार चुनाव बाद रेलवे के भाडों में वृद्धि की योजना अभी से ही बनाकर तैयार रखी गयी है। और इस ग़लतफहमी में भी न रहें कि चुनाव के नतीजों से, कौन दल चुनाव जीतेगा, उससे इसमें कुछ फ़र्क़ पड़ेगा। जहाँ तक मेहनतकश जनता की लूट का सवाल है, वो मौजूदा व्यवस्था में चुनाव नतीजों से बिल्कुल निरपेक्ष है, नतीजा कुछ भी हो, ये लुटेरी योजनाएँ हर रंग की सरकार पूरे सेकुलर तरीक़े से लागू करेगी; हिन्दू, मुस्लिम, दलित, सवर्ण, कश्मीरी, बिहारी, तमिल किसी के साथ भी कोई भेदभाव की शिकायत कम से-कम इस मामले में तो न होगी।

*''बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।''* - **लेनिन**

**'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।**

**यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।**
**बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।**
**सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।**

**पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं।**
**मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'!**
**इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।**

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

### मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
**www.mazdoorbigul.net**

**इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।**

**आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :**
**www.facebook.com/MazdoorBigul**

### 'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

**1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।**

**2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।**

**3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।**

**4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर ''कम्युनिस्टों'' और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।**

**5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।**

**प्रिय पाठको,**

**बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।**

**मनीऑर्डर के लिए पता :**
**मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना**
**डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
**बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul**
**खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200**
**पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ**

**सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये**

**मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :**
**फ़ोन : 0522-4108495, 8853093555, 9936650658**
**ईमेल : bigulakhbar@gmail.com**
**फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul**


### मज़दूर बिगुल

| | |
|---|---|
| सम्पादकीय कार्यालय | : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555 |
| दिल्ली सम्पर्क | : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928 |
| ईमेल | : bigulakhbar@gmail.com |
| मूल्य | : एक प्रति - 5/- रुपये<br>वार्षिक - 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित)<br>आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये |

# लखनऊ मेट्रो की जगमग के पीछे मज़दूरों की अँधेरी ज़िन्दगी

देश के कई महानगरों की तरह अब लखनऊ भी मेट्रो शहर बन गया है। जल्दी ही एयरपोर्ट से मुंशीपुलिया तक मेट्रो चलने लगेगी। चारबाग़ से लेकर ट्रांसपोर्ट नगर तक 8.5 किलोमीटर लम्बे रूट पर 5 सितम्बर 2017 से मेट्रो संचालन शुरू हो चुका है। लखनऊ मेट्रो रेल प्रोजेक्ट उत्तर प्रदेश का सबसे महँगा यातायात प्रोजेक्ट है जिसके फ़ेज़ 1 और फ़ेज़ 2 पर कुल ख़र्च 13.6 हज़ार करोड़ रुपये प्रस्तावित है। इसके पहले फ़ेज में 6238 करोड़ का बजट पास हुआ था जिसका लगभग 50 प्रतिशत यूरोपीय निवेश बैंक से निवेश किया गया था।

पूरे शहर में मेट्रो के 12 स्टेशन बनकर तैयार हो चुके हैं और 14 स्टेशनों का काम अभी चल रहा है। फ़िनिशिंग और सीवर लाइन का काम अन्तिम चरण में है और 28 फ़रवरी को मेट्रो का काम पूरा हो जायेगा। लोगों में मेट्रो को लेकर काफ़ी उत्साह है, स्टेशन देखने में भव्य लग रहे हैं, इन्हें देखकर लोगों को कुछ देर के लिए विकास का जुमला भी सच लगने लगा है।

**लेकिन सवाल यह है कि ये भव्यता, ये चकाचौंध आख़िर किसके दम पर?**

इसका जवाब है – उन मज़दूरों के दम पर जो मेट्रो स्टेशनों के आसपास या थोड़ी दूरी पर बस्तियों में बेहद नारकीय स्थितियों में टीन की पुरानी चादरों से बनी झुग्गियों में रहते हैं। जिन टीन के घरों में मज़दूर रहते हैं, वहाँ गर्मी के दिनों में रहना तो नरक से भी बदतर होता है, फिर भी मज़दूर चार साल से रह रहे हैं। यहाँ पानी 24 घण्टों में एक बार आता है, उसी में मज़दूरों को काम चलाना पड़ता है। इन मज़दूरों के रहने की जगह को देखकर मन में यह ख़याल आता है कि इससे अच्छी जगह तो लोग जानवरों को रखते हैं। एक 10 बाई 10 की झुग्गी में 5-8 लोग रहते हैं। कई झुग्गियों में तो 12-17 लोग रहते हैं।

चारों ओर गन्दगी, कूड़ा होने की वजह से बीमारियाँ फैलती रहती हैं। अक्सर मज़दूर और मज़दूरों के बच्चे बीमार पड़ते रहते हैं। लेकिन इससे सरकार या ठेका कम्पनियों को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि उन्हें सिर्फ़ एक ज़िन्दा मशीन चाहिए और वो उन्हें इस बेरोज़गारी के दौर में आसानी से मिल जाता है।

इन झुग्गियों और टीन की चादरों से बने हुए घरों में रहने वाले मज़दूरों का अधिकांश हिस्सा बिहार और पश्चिम बंगाल से है। कुछ लखनऊ के आस-पास के इलाक़ों - सीतापुर, बहराइच से हैं। कुछ पंजाब और ग़ाज़ियाबाद से भी हैं।

ये सभी मज़दूर अलग-अलग कम्पनियों के तहत ठेके पर काम कर रहे हैं। मेट्रो का पूरा काम ही ठेके पर चल रहा है। मेट्रो के ग्राउण्ड कंस्ट्रक्शन के काम को एल एण्ड टी कम्पनी को ठेके पर दिया गया है और अण्डरग्राउण्ड कंस्ट्रक्शन का काम टाटा को दिया गया है। बिजली और सीवर लाइन का काम विशाल इण्टरप्राइजेज को और फ़िनिशिंग का काम सैम इण्डिया बिल्ट प्राइवेट लिमिटेड को सौंपा गया है।

इन सभी कम्पनियों में मज़दूर ठेके पर काम कर रहे हैं जिनमें से ज़्यादातर को दूसरे कॉन्ट्रैक्टरों के ज़रिए काम पर रखा गया है। ये ठेकेदार दिहाड़ी के आधार पर काम करवाते हैं। एक दिन की दिहाड़ी औसतन 250-350 है। आज के इस महँगाई के दौर में मज़दूरों के लिए जीवनयापन करना इतना कठिन हो गया है कि लगभग 90-95 प्रतिशत मज़दूर 12 घण्टे काम करते हैं, ताकि उन्हें ओवरटाइम का पैसा मिल सके। यही नहीं, जिन कुछ मज़दूरों को रविवार को छुट्टी मिलती है, वे छुट्टी न लेकर रविवार के दिन भी काम करते हैं।

यहाँ काम कर रही कम्पनियों के अलग-अलग नियम हैं। विशाल इण्टरप्राइजेज को छोड़कर लगभग सारी कम्पनियाँ मज़दूरों को एक दिन भी छुट्टी नहीं देती। मज़दूरों का अपना कोई लिखित रिकॉर्ड टाटा को छोड़कर अन्य किसी कम्पनी के पास नहीं है। मज़दूरों को रखने, वेतन देने ये सारे काम ठेकेदार द्वारा ही निपटाया जाता है। अधिकतर मज़दूरों को कोई सैलरी स्लिप नहीं मिलती है। यहाँ तक की मज़दूरों की हाज़िरी भी ठेकेदार नहीं लेते हैं और इस तरह से मज़दूरों के काम के दिनों को कम करके उनके वेतन में कटौती कर ली जाती है। बिहार से आने वाले अधिकांश मज़दूर पढ़े-लिखे नहीं होते, उन्हें ज़्यादा हिसाब करना नहीं आता। ऐसे में उनकी मज़दूरी में कटौती करना आसान हो जाता है।

सैम इण्डिया के कुछ मज़दूरों से बात करने पर पता चला कि उन्हें वेतन समय पर नहीं मिलता और ठेकेदार इधर-उधर करके वेतन में कटौती करने पर तुला रहता है। आवाज़ उठाने पर डाँट-डपट दिया जाता है क्योंकि मज़दूर किस आधार पर अपनी बात रखे, उन्हें नहीं पता है।

क़ानून के मुताबिक मज़दूरों को समय से और उचित मज़दूरी मिलने की ज़िम्मेदारी मुख्य नियोक्ता, यानी लखनऊ मेट्रो रेल कॉरपोरेशन की, और उत्तर प्रदेश सरकार की है। लेकिन वह ठेकेदारों की अँधेरगर्दी से पूरी तरह आँख मूँदे रहता है। मज़दूरों को क़ानूनी हक़ की जानकारी नहीं होने के कारण वे भी ठेकेदारों के ही आगे-पीछे घूमते रहते हैं।

कुछ मज़दूर ऐसे भी मिले जो बता रहे थे कि उन्हें काम करते समय गिरने और चोट लगने की सम्भावना बनी रहती है, क्योंकि कम्पनियाँ सबको सुरक्षा कवच नहीं देतीं।

गम्भीर चोट लगने पर मज़दूरों का प्राथमिक इलाज होता है, छोटी चोट या कभी तबीयत ख़राब होने पर मज़दूर ख़ुद ही अपना इलाज कराते हैं। अगर कभी कोई हादसा होता है और किसी मज़दूर की जान चली जाती है तो कम्पनियों के मालिकों की पूरी कोशिश रहती है कि पुलिस को थोड़ा खिला-पिलाकर मामले को रफ़ा-दफ़ा किया जाये। वैसे तो किसी मज़दूर की जान जाने पर 6-8 लाख का मुआवज़ा निर्धारित है पर पूरे 4 सालों में जितने भी ऐसे केस हुए हैं, किसी को पूरा मुआवज़ा नहीं मिला।

मेट्रो प्रोजेक्ट में अण्डरग्राउण्ड रूट के लिए टनल बनाने में जुटे मज़दूर सिर्फ़ मज़दूर नहीं हैं, सही मायनों में वे ख़तरों के खिलाडी हैं। ये ज़मीन से 50 फ़ीट नीचे काम कर रहे हैं, जहाँ हवा है ही नहीं 24 घण्टे ऑक्सीजन की सप्लाई देनी पड़ती है। यहाँ मीथेन जैसी ज़हरीली गैसों का ख़तरा है। लेकिन ऐसी जगहों में मज़दूर अपनी जान की परवाह किये बग़ैर काम कर रहे हैं।

इसके अलावा काम ठेके पर होने की वजह से तथा अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमा लेने की होड़ में कई बार घटिया सामान लगाकर निर्माण कार्य होता है जिसका ख़ामियाज़ा मज़दूरों को अपनी जान गवाँ कर चुकाना पड़ता है।

2016 में आजतक में एक रिपोर्ट आयी थी, जिसका शीर्षक था - लोगों की मौत का सबब बन रहा है लखनऊ मेट्रो। ख़बर थी कि लखनऊ में मेट्रो का काम तेज़ी से चल रहा है लेकिन कभी पुल का पूरा मलबा तेज़ी से गिर जा रहा है तो कभी पुल ही धराशाई हो जा रहा है।

आलमबाग़ के पास 17 अप्रैल को एक पुल धराशाई हो गया था जिसमें एक मज़दूर की मौत हो गयी थी। हादसे में कम से कम दर्जन भर मज़दूर घायल हो गये थे, लेकिन घटना के समय मौजूद कुछ मज़दूरों से बात करके यह पता चला कि मलबे के नीचे कितने मज़दूर मरे, कुछ पक्का पता नहीं चला क्योंकि मलबा रात में ही जल्दी से फेंकवा दिया गया।

सरोजनीनगर में मेट्रो की छत ही गिर गयी थी। इस तरह से आये दिन मेट्रो निर्माण कार्य में दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। बहुत कम ही ख़बरें बाहर आ पाती हैं, बाक़ी ख़बरें दबा दी जाती हैं। मेट्रो मज़दूरों की ज़िन्दगी को ज़िन्दगी नहीं समझा जाता।

बिहार के मज़दूरों से बात करने पर पता चला कि मेट्रो का काम 28 फ़रवरी को ख़त्म होने जा रहा है और उसके बाद उन्हें अपने घर लौटना होगा क्योंकि तब उनके पास कोई और काम नहीं होगा। एक मज़दूर तो यहाँ तक कहने लगा कि अब बच्चों की पढ़ाई भी छुड़ानी पड़ेगी क्योंकि फ़ीस भरने तक के पैसे भी नहीं होंगे।

इस तरह, मेट्रो निर्माण के बाद एक बहुत बड़ी आबादी बेरोज़गार हो जायेगी। जिन मज़दूरों की बदौलत लखनऊ के लोग मेट्रो में सफ़र का आनन्द लेंगे, उन्हीं मज़दूरों को बाद में पेट भर खाना मिलेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता।

ये पूँजीवादी व्यवस्था मज़दूरों को एक मशीन की तरह इस्तेमाल करती है, जब ज़रूरत ख़त्म हुई, उन्हें निकालकर बाहर कर दिया जाता है। ऐसे मज़दूरों की बदौलत ही दुनिया के तमाम महल खड़े किये जाते हैं लेकिन उन मज़दूरों की ज़िन्दगी उस महल के तहखाने तक ही सीमित रह जाती है। यही स्थिति लखनऊ के मेट्रो मज़दूरों की भी है।

**– रूपा/अनुपम**

## "लखनऊ की शान" मेट्रो को अपनी मेहनत से खड़ा करने वाले मज़दूर ऐसे नारकीय हालात में रहते हैं!

# केन्द्रीय बजट में महिला एवं बाल विकास के मद में 20 प्रतिशत बढ़ोत्तरी का सच

## आँगनवाड़ी और आशाकर्मी बहनो! देख लो सरकारी ढोल की पोल!

**- वृषाली**

केन्द्र सरकार के वित्त मन्त्री पीयूष गोयल ने यूनियन सालाना बजट 1 फ़रवरी 2019 को पेश कर दिया है। यह बजट कम और चुनावी घोषणा-पत्र अधिक प्रतीत हो रहा है। समाज के तमाम तबक़ों के सामने जुमलों की बारिश की गयी है। मोदी जी जानते हैं कि जनता पिछले जुमलों का तो हिसाब माँगने से रही इसलिए नये-नये जुमले परोसने में जाता ही क्या है! झूठ के इन गोलों को फ़रेब की चाशनी में डुबोकर और धोखे के थाल में सजाकर सच की तरह पेश करने के लिए ट्रोलरों की आईटी सेल और तथाकथित मुख्य धारा का मीडिया है ही जो ख़ुद भी आईटी सेल से कम नहीं है। जो "सत्यरक्षक" मीडिया 2,000 रुपये के करेंसी नोट में जीपीएस चिप साबित कर सकता है, उस पर मोदी जी का भरोसा भी जायज़ ही है! भाजपा नीत राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन की मोदी सरकार ने दावा किया है कि महिला और बाल विकास विभाग का बजट पिछले साल से 20 प्रतिशत बढ़ा दिया गया है। ज़ाहिर है कि भाजपा सरकार ने 2019 के आने वाले लोकसभा चुनावों के मद्देनज़र अपने शासन के आख़िरी समय में आँगनवाड़ी की लाखों कर्मचारियों के सामने जुमलों की बौछार की है! भाजपा यह बात भली प्रकार से जानती है कि आँगनवाड़ी और आशा कर्मचारियों की संख्या में यदि उनके परिवारों को भी जोड़ दिया जाये तो करोड़ों की आबादी बनती है। इस आबादी को येन-केन-प्रकारेन बरगलाये रखने में ही भाजपा अपनी भलाई समझती है। किन्तु बजट का थोड़ा-सा ही विश्लेषण करने पर मोदी सरकार की सारी उलटबासियाँ धराशाही होकर उसकी असल मंशा बेपर्द हो जाती है।

इस बात में कोई दो राय नहीं है कि इस बार के यूनियन बजट में महिला एवं बाल विकास विभाग की मद में पिछले साल की तुलना में 20 प्रतिशत राशि ज़्यादा आबण्टित की गयी है। राशि ज़्यादा आबण्टित करना तो ठीक है किन्तु झोल कहीं और है! पिछले साल का बजट और बजट के बाद के नतीजे देखें तो इस 20 प्रतिशत बढ़ोत्तरी की असलियत पता चल जायेगी। पिछले साल के बजट में इस विभाग को 24,700 करोड़ रुपये दिये गये थे और राष्ट्रीय पोषण मिशन के फ़ण्ड में तीन-चौथाई का इज़ाफ़ा किया गया था। उसका नतीजा हम सबके सामने है - 'द वायर' की 18 अक्टूबर की रिपोर्ट के अनुसार झारखण्ड, जहाँ 'पोषण महीना' मनाया जा रहा था, 4 महीनों से आँगनवाड़ी केन्द्रों पर पोषाहार ही नहीं पहुँचा था। वहीं दिल्ली की घटना भी उन 24,700 करोड़ रुपयों पर सवाल खड़ा करने के लिए पर्याप्त है। जब देश की राजधानी दिल्ली में भूख के कारण 3 बच्चियाँ दम तोड़ देती हैं और केन्द्र की 'भाजपा' और राज्य की 'आप' सरकारें 'तू नंगा-तू नंगा' का घटिया खेल खेलने में मशगूल रहती हैं। 2019-20 के वित्तीय वर्ष के लिए महिला एवं बाल विकास विभाग को 29,165 करोड़ रुपये की राशि आबण्टित की गयी है। लेकिन पिछले कई सालों की प्रवृत्ति देखें तो जितनी राशि आबण्टित की जाती है, असल में उतनी राशि कभी ख़र्च नहीं की जाती। तथ्य झूठ के बड़े-बड़े तिलिस्मों को भेद डालते हैं! मसलन, व्यय वित्त समिति (एक्स्पेंडिचर फाइनैन्स कमिटी) ने 12वीं पंचवर्षीय योजना 2012-17 में आँगनवाड़ी परियोजनाओं के लिए 1,23,580 करोड़ रुपये की राशि को स्वीकृति दी थी, लेकिन 2012-17 के बीच ख़र्च की गयी राशि 78,768 करोड़ रुपये ही थी, जो स्वीकृत राशि का 64 प्रतिशत थी। 2016-17 के वित्तीय वर्ष की ही बात करें तो स्वीकृत राशि 30,025 करोड़ रुपये थी और ख़र्च की गयी राशि 14,561 करोड़, यानी स्वीकृत राशि का मात्र 48 प्रतिशत ही ख़र्च हुआ! बजट बनाते समय सरकारों के द्वारा अपने ख़ूब गाल बजाय जाते हैं किन्तु आबण्टित राशि बहुत बार तो ख़र्च ही नहीं होती और यदि कुछ ख़र्च होती भी है तो बिना किसी पारदर्शिता के कहना नहीं होगा कि बहुत सा पैसा एनजीओ-नेताशाही-नौकरशाही की ही भेंट चढ़ जाता है!

सरकार समेकित बाल विकास परियोजना को लेकर कितनी गम्भीर है उसका एक जवाब देश में कुपोषण की भयंकर समस्या ही दे देती है। अक्टूबर 2018 में आयी वैश्विक भूख सूचकांक की रिपोर्ट कहती है कि भारत 119 देशों की सूची में 103वें स्थान पर पहुँच गया है। और यहाँ के हालात अफ्रीका के बेहद ग़रीब और पिछड़े हुए देशों से भी ज़्यादा ख़राब हैं। सितम्बर 2018 में जारी मानवीय विकास सूचकांक की 189 देशों की सूची में भारत 130वें स्थान पर आ चुका है। भाजपा एक ओर तो देश को विश्वगुरु बनाने के ख़्वाब दिखा रही है दूसरी ओर एक धन-धान्य से सम्पन्न देश को दुर्गति की गर्त में धकेल रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट बताती है कि भारत में साल 2017 में 8 लाख बच्चों की कुपोषण और साफ़-सफ़ाई व स्वास्थ्य सुविधाओं में कमी के कारण मौत हुई जोकि दुनिया में सबसे ज़्यादा है! ये सिर्फ़ आँकड़े नहीं हैं बल्कि हमारी हो रही दुर्गति के जीते-जागते प्रमाण हैं। जिस धरती पर हर 2 मिनट में 3 नौनिहालों की मौत कुपोषण के कारण हो जाती हो, वहाँ पर व्यवस्था के ठेकेदारों और जुमलेबाजों को शर्म भी ना आये तो हालात की भयंकरता को समझा जा सकता है।

समेकित बाल विकास परियोजना, राष्ट्रीय पोषण अभियान और प्रधानमन्त्री मातृ वन्दना योजना के बढ़ाये हुए क्रमशः 4,500 करोड़, 400 करोड़ और 1,300 करोड़ रुपये देश की ज़रूरतमन्द आबादी को कितनी राहत पहुँचा पाते हैं यह बात अपने आप में ही सवालों के घेरे में है! वैसे ही पिछले साल,अर्थात 2018 के अक्टूबर महीने में ही केन्द्र की मोदी सरकार ने एक और घोषणा की थी - आँगनवाड़ी और आशाकर्मियों के मानदेय में बढ़ोत्तरी की घोषणा। बढ़ा हुआ मानदेय आज तक उस आँगनवाड़ी महिलाकर्मी के खाते में भी नहीं आया है जिसके सामने प्रधानमन्त्री मोदी ख़ुद मानदेय बढ़ोत्तरी की लन्तरानी हाँक रहे थे। आपने सफ़ेद झूठ के बारे में सुना तो होगा, किन्तु दर्शन दुर्लभ थे! अब मोदी जी ने 'मन की बात' को झूठ के स्याह कमल खिलाने का अच्छा मंच बना दिया है।

भारत जैसा देश जो 'कुपोषण' की ज़बरदस्त मार झेल रहा है, वहाँ ज़मीनी स्तर पर 'समेकित बाल विकास परियोजना' जैसी महत्वपूर्ण स्कीम में काम कर रही आँगनवाड़ी व आशाकर्मियों को कर्मचारी का दर्जा देने की सरकारों की कोई मंशा ही नहीं है जबकि इनका काम स्थायी प्रकृति का होता है। सरकार को चाहिए तो यह कि स्थायी प्रकृति का काम करने वाली आँगनवाड़ी और आशा स्कीम के तहत कार्यरत सभी सहायिकाओं और कार्यकर्ताओं को पक्का कर दिया जाये किन्तु सरकार पक्का करने की बजाय मानदेय बढ़ोत्तरी के झुनझुने थमा रही है और वे भी झूठे! ज़ाहिर है, हर साल की तरह इस बार के बजट का भी एक बड़ा हिस्सा नेताशाही-नौकरशाही और एनजीओ के चढ़ावे में ही इस्तेमाल होगा और आम जनता देखती रह जायेगी। असल में बजट के इतिहास पर नज़र डाली जाये तो यह इस देश के ज़रूरतमन्द बच्चों, आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों व माताओं के साथ एक भद्दे मज़ाक़ के अलावा कुछ नहीं होता है! यदि हम चाहते हैं कि पूरा का पूरा बजट बिना भ्रष्टाचार की भेंट चढ़े पारदर्शिता के साथ ख़र्च हो तो इसके लिए जन-लामबन्दी बेहद ज़रूरी है।

# कम्पनी की लापरवाही से मज़दूर की मौत, सीटू नेताओं ने यहाँ भी की दलाली

लुधियाना के फ़ोकल प्वाइण्ट, फेस-5 में स्थित ऑटो पार्ट्स बनाने वाली एक बड़ी कम्पनी बजाज संस इण्डिया लिमि. की सी-103 यूनिट, जिसमें लगभग 1000 मज़दूर काम करते हैं, में गुज़री 18 जनवरी को कम्पनी की लापरवाही की वजह से एक मज़दूर को अपनी जान गँवानी पड़ी। जीतू की उम्र लगभग 45 वर्ष थी। वह कम्पनी के पास ही स्थित जीवननगर में किराये के कमरे में अपनी माँ, पत्नी, 4 बच्चों के साथ रहता था। इस कम्पनी में लम्बे समय से काम कर रहा था। इन दिनों उसकी ड्यूटी पीस चेक करने पर लगी थी। जहाँ पर खड़े होकर उसे यह काम करना पड़ता था। उसके सामने एक 8 फ़ुट चौड़ा गेट है। इस गेट से ट्रॉली वगैरे से सामान ढोने का काम होता है। गेट पर पर्दा लगा होने की वजह से ट्रॉली के आने-जाने में दिक़्क़त आती थी। इसलिए कम्पनी मैनेजमेण्ट ने पर्दा हटवा दिया।

इसकी वजह से काफ़ी ज़्यादा सर्दी अन्दर आने लगी। जीतू ने इसकी शिकायत मैनेजर प्रमोद शर्मा से की और पर्दा लगाने के लिए कहा। लेकिन मैनेजर ने उसे गुस्से में बोला – "तुम्हें ज़्यादा ठण्डी लगती है? कोई पर्दा-वर्दा नहीं लगेगा।" एक हफ़्ते बाद 18 जनवरी को जीतू सुबह 6 बजे ड्यूटी आया। बहुत ज़्यादा सर्दी लगने से उसके पेट में दर्द शुरू हो गया। वो दो घण्टे कम्पनी में तड़पता रहा। इसके बाद ही कम्पनी की एम्बुलेंस से उसे ईएसआई अस्पताल ले जाया गया। कम्पनी के किसी मैनेजर ने उसे अपनी गाड़ी से अस्पताल ले जाने की पेशकश नहीं की। ईएसआई अस्पताल ने इलाज की अक्षमता बतायी और अपोलो अस्पताल रेफ़र कर दिया। लेकिन राह में ही उसकी मौत हो गयी।

उधर कम्पनी के रवैये से मज़दूर भड़के हुए थे। सबकी माँग थी कि लाश कम्पनी गेट पर आये। ग़ौरतलब है कि कम्पनी में सीटू की यूनियन है। सीटू द्वारा मज़दूरों की पीठ में छुरा घोंपने, धोखा देने, और पूँजीपतियों की दलाली, उनकी सेवा करने का पुराना इतिहास है। इस कम्पनी में भी सीटू लम्बे समय से अपना यही चरित्र पेश करती आयी है। इस मामले में सीटू नेताओं ने लाशों पर दलाली करने वाला चरित्र पेश किया है। सीटू नेताओं को पता था कि अगर लाश कम्पनी गेट पर जायेगी तो कम्पनी के ख़िलाफ़ मज़दूरों का ज़ोरदार प्रदर्शन होगा। दलाल नेता ऐसा हरगिज़ नहीं चाहते थे। लाश कम्पनी गेट पर लाने की बजाय सीधा उसके घर पर ले जायी गयी। वहाँ भी सिर्फ़ 15-20 मिनट रुका गया। कम्पनी मैनेजमेण्ट और सीटू नेताओं दोनों ही जल्द से जल्द लाश शमशान घाट पहुँचाने के लिए हड़बड़ाये हुए थे। असल में वे डरते थे कि कहीं कम्पनी के सारे मज़दूर घर पर ही न पहुँच जायें। शमशान घाट पहुँचकर भी सीटू नेता पण्डित को कह रहे थे कि भईया जल्दी-जल्दी मन्त्र पढ़ो, ज़्यादा देर मत लगाओ।

डॉक्टरी रिपोर्ट में लिख दिया गया कि जीतू घर पर बीमार हुआ है। मौक़े पर मौजूद सीटू नेताओं ने इस पर भी कोई किन्तु-परन्तु नहीं किया। सीटू नेताओं ने खुलकर कम्पनी का पक्ष लेते हुए कहा कि - "इसमें कम्पनी की क्या ग़लती है? कोई भी बीमार पड़ सकता है। और आधे घण्टे बाद एम्बुलेंस आ तो गयी थी"। जब कि एम्बुलेंस दो घण्टे लेट पहुँची। और अत्यधिक ठण्ड में काम करवाने, गेट से पर्द हटाने, पर्दा लगाने की माँग करने पर डाँटने की सारी बातें सीटू नेता गोल कर गये। वास्तव में यह तो क़त्ल है। और सीटू नेताओं ने सरेआम कातिल कम्पनी को बचाने का काम किया है। सीटू नेताओं ने बेशर्मी की सारी हदें पार करते हुए मज़दूरों के सामने हाँक रहे थे कि - "देखा, दोनों यूनिटों में छुट्टी करवा दी, और कितना बड़ा जुलूस निकला है। लोगों को लग रहा है कि कोई बड़ा आदमी मरा है।" मज़दूरों को सीटू नेताओं के रवैये पर बेहद गुस्सा आ रहा था। लेकिन वे मौक़े पर कुछ कर नहीं पाये।

जब सीटू नेता ही जेब में हों तो मैनेजमेण्ट को किस बात का डर? मज़दूरों को बोल दिया गया कि दो घण्टे की छुट्टी में जो उत्पादन का नुक़सान हुआ है, उसे पूरा करना होगा।

बजाज संस लि. में रोज़ाना मज़दूरों के साथ हादसे होते हैं, ख़ासकर पावर प्रेस विभाग में। लेकिन सीटू नेता कभी इसके ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाते। सीटू नेताओं ने मज़दूरों को पहले यह भी नहीं बताया था कि कुशलता के हिसाब से न्यूनतम वेतन का क्या क़ानूनी अधिकार है और मज़दूरों का कितना-कितना न्यूनतम वेतन बनता है। इन माँगों पर जब 'बिगुल' ने मज़दूरों को जगाया और मज़दूरों ने न्यूनतम वेतन और अन्य माँगों के लिए सीटू से अलग होकर संघर्ष शुरू किया तो सीटू नेताओं ने अपना आधार बचाने के लिए मैनेजमेण्ट को कहकर न्यूनतम वेतन लागू करवाया। मैनेजमेण्ट को भी डर था कि अगर मज़दूर जूझारू संघर्ष की राह चल पड़े और सीटू का आधार ख़त्म हो गया तो बहुत गम्भीर स्थिति हो जायेगी। इस तरह सीटू और मैनेजमेण्ट की मिलीभगत का बजाज संस लि. में लम्बा इतिहास है। जीतू की मौत के मामले में भी सीटू नेता दलाली खाने से बाज नहीं आये। बहुत से मज़दूर कहते हैं कि नहीं सोचा था कि सीटू नेता कम्पनी की दलाली करते-करते इतना नीचे गिर जायेंगे।

बजाज संस लि. के मज़दूर जितनी जल्दी मैनेजमेण्ट-सीटू गठबन्धन के बिछाये जाल से बाहर निकल आयें उतना अच्छा है।

**बिगुल संवाददाता,** लुधियाना

# सरकारी स्कूलों को सोचे-समझे तरीक़े से ख़त्म करने की साज़िश

**- प्रवीन**

वैसे तो बच्चों की पहली पाठशाला उसका समाज होते हैं। लेकिन एक बच्चे को अक्षर ज्ञान सही से स्कूल में जाने के बाद ही हो पाता है। इसलिए अगर हम स्कूल को बच्चों के ज्ञान का स्रोत कहें तो हमें लगता है कि हम इसमें कुछ ग़लत नहीं कह रहे। स्कूल एक ऐसा स्थान होता है, जहाँ बच्चों में सामूहिकता की भावना के साथ-साथ कला और श्रम की संस्कृति भी पैदा होती है। एक स्कूल केवल शिक्षा का ही केन्द्र नहीं होता बल्कि वह बच्चों के मानसिक और शारीरिक विकास को बढ़ावा देने वाला स्थान भी होता है। इसलिए बच्चों की ज़िन्दगी में स्कूलों की अहमियत को समझते हुए स्कूलों के ढाँचे को सही से बनाकर रखना किसी भी सरकार की ज़िम्मेदारी होती है। क्योंकि जनता के अप्रत्यक्ष कर द्वारा जो सरकारी ख़ज़ाना भरता है उसमें सरकार की ज़िम्मेदारी होती है कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएँ जनता को मुहैया करवाये।

## उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों का असर

आज अगर हम हमारे देश के सरकारी स्कूलों पर एक नज़र दौड़ायें तो हम पाते हैं कि देश के सरकारी स्कूलों की व्यवस्थित तरीक़े से ख़त्म करने का काम हमारे ही देश की सरकारों द्वारा किया जा रहा है। आज भारत के किसी भी राज्य में सरकारी स्कूलों के हालात अच्छे नहीं हैं। वैसे तो देश में सरकारी स्कूलों को ख़त्म करने की योजना 1990 के पहले से ही शुरू हो गयी थी। लेकिन 1990 के दशक की नव उदारवादी नीतियाँ जो देश में लागू हुईं, उसके बाद देश में पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली किसी भी सरकार के लिए इस मुहिम को आगे बढ़ाना और भी ज़्यादा आसान काम हो गया। अब पूँजी के लिए बाज़ार खोल दिया गया और शिक्षा को भी एक बाज़ारू माल बनाने की पहलक़दमी शुरू हो गयी। अब सरकारी स्कूलों को प्लान तरीक़े से ख़त्म करने के साथ-साथ प्राइवेट स्कूलों को बढ़ावा दिया जाने लगा। जिसे स्कूल शिक्षा का केन्द्र न रहकर बिज़नेस बनता चला गया। अब पूँजीपति वर्ग ने अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में भी पूँजी लगानी शुरू कर दी जिससे जल्दी ही पूरे देश में प्राइवेट स्कूलों की बाढ़-सी आ गयी। अब पूँजीपति वर्ग शिक्षा के क्षेत्र में भी मोटा मुनाफ़ा कमाने लगा और स्कूलों को एक बिज़नेस के तौर पर इस्तेमाल करने लगा। आजतक की एक रिपोर्ट के अनुसार 2010 से 2016 तक भारत के 20 राज्यों के सरकारी स्कूलों में होने वाले एडमिशनों में 1.3 करोड़ की गिरावट दर्ज की गयी है। वहीं दूसरी तरफ़ निजी स्कूलों में इसी दौरान 1.75 करोड़ नये छात्रों ने एडमिशन लिया है। यह आँकड़ा ही महज़ इस बात की पुष्टि करता है कि सरकारी स्कूलों के ढाँचे में सुधार न करने की कोशिश के चलते लगातार उनकी लोकप्रियता में गिरावट आ रही है। जिसके कारण आज एक मज़दूर भी अपने बच्चे को प्राइवेट स्कूल में भेजने पर मजबूर है। सरकारी स्कूलों के ढाँचे को इस बात से भी जाँचा-परखा जा सकता है कि 2016 की संसद की और 11 जनवरी 2019 की जनसत्ता की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ देश में क़रीब एक लाख से ज़्यादा सरकारी स्कूल ऐसे हैं जहाँ केवल एक ही टीचर स्कूल चला रहा है। जिसमें पहले नम्बर पर मध्य प्रदेश में ऐसे स्कूलों की संख्या 17,874 है और उत्तर प्रदेश 17,602 संख्या के साथ दूसरे नम्बर पर है। आज भारत में सरकारी स्कूलों के मुक़ाबले निजी स्कूलों की संख्या 450 गुना तेज़ी से बढ़ रही है।

## सरकारी स्कूलों की दुर्दशा की कहानी, स्कूलों की जुबानी

वैसे तो हमारे देश के सरकारी स्कूलों के हालात से हम सब अच्छे से परिचित हैं। लेकिन फिर भी कुछ आँकड़ों के माध्यम से हम स्कूलों की सच्चाई को ज़मीनी स्तर पर परखने की कोशिश करेंगे। अभी बीबीसी की 6 जनवरी 2019 की ताज़ा रिपोर्ट के आधार पर यू-डायस के आँकड़ों के मुताबिक़ केवल अकेले बिहार राज्य में 13 प्राथमिक विद्यालयों में नामांकन शून्य है और 171 स्कूलों में 0 से अधिक और 20 से कम है। इसी प्रकार 21 से 30 और 31 से 39 नामांकन वाले प्राथमिक विद्यालयों की संख्या क्रमशः 336 एवं 620 हैं। यहाँ पर महज़ यह बात याद रखने वाली है कि ये आँकड़े पूरे स्कूल के हैं न कि एक क्लास के। वहीं अकेले पटना ज़िले में 133 स्कूल ऐसे हैं जो अत्यन्त कम नामांकन की लिस्ट में शामिल हैं। जहाँ हम 72 साल पहले "आज़ाद" होने का दावा करते हैं वहीं पर आज भी सरकारी स्कूलों के हालात ये हैं कि बिहार के पटना ज़िले में बोरिंग रोड के पास बाँसों पर अटकी फूस की छत के नीचे ज़मीन पर बैठकर बच्चे पढ़ने के लिए शिक्षकों का इन्तज़ार करते रहते हैं। एक तरफ़ जहाँ मोदी सरकार डिजिटल इण्डिया की बात करती है वहीं दूसरी तरफ़ स्कूलों के ये हालात डिजिटल भारत की पोल खोलकर रख देते हैं। इन हालात के चलते कोई यह नहीं चाहेगा कि उनके बच्चे ऐसे स्कूलों में पढ़ने जायें जहाँ शिक्षकों की कमी के साथ-साथ स्कूली ढाँचा ही सुचारू रूप से न चल रहा हो। अभी हाल में सर्वे, सरकारी रिपोर्ट बता रही है कि मौजूद समय में देशभर में सरकारी स्कूलों में दस लाख शिक्षकों के पद रिक्त पड़े हैं। इनमें अकेले नौ लाख पद प्राथमिक स्कलों में रिक्त हैं।

स्कूलों के ऐसे हालात के चलते ही बिहार में 2016-17 में जहाँ 1.99 करोड़ बच्चों का नामांकन था वहीं 2017-18 में घटकर 1.8 करोड़ पर आ गया। बिहार राज्य में ही 1173 ऐसे प्राथमिक विद्यालय थे जो भवनहीन और भूमिहीन थे जिनको अब बड़े विद्यालयों के साथ जोड़ दिया गया है। अब सवाल यह उठता है कि भूमिहीन और भवनहीन विद्यालय तो दूसरे विद्यालयों के पास चले गये लेकिन उन विद्यालयों में पढ़ने वाले मासूम बच्चे कहाँ जायें और अब किसके सहारे अपनी पढ़ाई पूरी करें। वहीं देश के उत्तर प्रदेश राज्य की अगर बात की जाये तो लम्बे-चौड़े वायदे करने वाली योगी सरकार तीर्थ स्थलों के विकास के लिए करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा देती है। लेकिन जब शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे बुनियादी मुद्दों पर ख़र्च करने का समय आता है तो उनके ख़र्च में हर साल कटौती कर दी जाती है। उत्तर प्रदेश में 2016-17 के बजट को देखा जाये तो जहाँ माध्यमिक शिक्षा के लिए 9.5 हज़ार करोड़ और उच्च शिक्षा के लिए 2742 करोड़ रुपये निर्धारित किये गये थे। वहीं 2017-18 के बजट में माध्यमिक शिक्षा के लिए 576 करोड़ और उच्च शिक्षा के लिए 272 करोड़ निर्धारित किये गये। यह अलग बात है कि प्राथमिक शिक्षा के लिए पिछले साल की तुलना में बजट में 5,867 करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी की गयी है। लेकिन माध्यमिक और उच्च शिक्षा में 2016-17 के बजट की बजाय 2017-18 के बजट में 90 फ़ीसदी की कटौती कर दी गयी। जबकि यूपी में प्राथमिक स्कूल में दो लाख चौबीस हज़ार से ज़्यादा पद ख़ाली पड़े हैं। वहीं देश के हरियाणा राज्य की अगर हम बात करें तो "बेटी-बचाओ बेटी-पढ़ाओ" की नौटंकी करने वाली खट्टर सरकार के कार्यकाल में पिछले 4 साल का आँकड़ा यह बताता है कि पिछले 4 सालों में 208 प्राथमिक स्कूल बन्द कर दिये गये। 20 अक्टूबर 2018 की जागरण की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ खट्टर सरकार द्वारा 53 स्कूलों को और बन्द करने का फ़ैसला लिया गया है। लेकिन इसके विपरीत 4 सालों के दौरान 974 नये मान्यता प्राप्त निजी स्कूलों को खोला गया है। हरियाणा प्रदेश में 3,500 स्कूल ऐसे हैं जो बिना मुखिया के चल रहे हैं। आज हरियाणा के सरकारी स्कूलों में 40 हज़ार से ज़्यादा शिक्षकों के पद ख़ाली पड़े हैं। जिनको सत्ता में आने वाली कोई भी सरकार भरने का नाम तक नहीं लेती। प्रदेश के सरकारी स्कूलों में नियुक्त शिक्षकों से खट्टर सरकार आज स्कूलों में पढ़ाई करवाने की बजाय मेलों में प्रसाद बँटवाने तक का काम सौंप देती है। सभी आँकड़ों के आधार पर कहा जा सकता है कि केवल हरियाणा, बिहार और उत्तर प्रदेश राज्यों के ही शिक्षा के मामले में हालात ख़राब नहीं हैं बल्कि आज देश के सभी राज्यों के स्कूलों की स्थिति इन्हीं राज्यों जैसी है। तो ऐसे में कैसे कहा जा सकता है कि सत्ता में बैठी सरकारें सरकारी स्कूलों के ढाँचे में कोई सुधार करना चाहती हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि आज शिक्षा ग़रीब इंसान की पहुँच से लगातार दूर होती जा रही है। अब कहा जाये तो 1990 के दशक की नवउदारवादी नीतियों का असर शिक्षा के क्षेत्र में भी देखने को मिल रहा है। इस दौरान सत्ता में चाहे कोई भी सरकार आयी हो उन्होंने व्यवस्थित तरीक़े से सरकारी स्कूलों के ढाँचे को ख़त्म करने का काम किया है। जबकि दूसरी तरफ़ प्राइवेट स्कूलों को बढ़ावा देने का काम भी उन्होंने बख़ूबी से किया है।

शिक्षा व्यवस्था के ढाँचे को सही से लागू करवाने के लिए 'सबको समान एवं निःशुल्क स्कूली शिक्षा' ही विकल्प है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जनता की एकजुटता वह ताक़त होती है जो सत्ता में बैठी किसी भी सरकार को झुकाने का दम रखती है। ऐसे में जो शिक्षा व्यवस्था एक इंसान को असल में इंसान बनाने का काम करती है। उसे बचाने के लिए आज देश की मेहनतकश अवाम को आगे आने की ज़रूरत है। अगर सरकारी स्कूलों को बचाने का आज हम प्रयास नहीं करेंगे तो आने वाला भविष्य हमारे और हमारे बच्चों के लिए बेहद ख़तरनाक होगा। क्योंकि जब तक हमारे बच्चों को अच्छी शिक्षा ही नहीं मिल पायेगी तब तक हम कैसे कह सकते हैं कि वह अपने भविष्य को सुनिश्चित कर पायेंगे। आज जब देश में हमारे शहीदों के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने की ज़रूरत है और उनका सपना पूरा करने के लिए आगे आने की ज़रूरत है तो ऐसे में बिना शिक्षा हासिल किये वह इस काम को कैसे अंजाम दे पायेंगे। यानी आज वह समाज बदलाव की लड़ाई सही तरीक़े से कैसे आगे बढ़ा पायेंगे। आज हमें शिक्षा के पहलू को हर दृष्टिकोण से देखने की ज़रूरत है। इसलिए पूरे देश में एकसमान शिक्षा व्यवस्था लागू करवाने के लिए जनएकजुटता के साथ सत्ता में बैठी किसी भी सरकार पर दबाव बनाने की ज़रूरत है। यूँ तो समान तथा पड़ोस के स्कूल की शिक्षा की पैरवी कोठारी कमीशन, राष्ट्रीय शिक्षा नीति और सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन फ़ैसले (1993) द्वारा की जा चुकी है परन्तु ये सभी बातें सिर्फ़ काग़ज़ी साबित हुईं। वास्तविकता में कोई क़दम सरकार ने नहीं उठाया। क्योंकि समान स्कूली व्यवस्था लागू कैसे करेंगे, कौन ज़िम्मेदार होगा, यह बात सिरे से ग़ायब थी। और जब इसे व्यावहारिकता का जामा पहनाया गया, यानी क़ानून बना तो सरकार समान स्कूल व्यवस्था की बात को निगल गयी। साफ़ है कि देश के आर्थिक विकास के नाम पर बच्चों के भविष्य का सौदा किया जा रहा है, उनके सपनों को अमीर और ग़रीब में बाँटा जा रहा है। प्रश्न यह उठता है कि क्या इस देश में समान स्कूल व्यवस्था लागू की जा सकती है?

ऐसा करना मुमकिन है। इस बात को सरकार द्वारा बैठायी गयी कमेटियाँ ख़ुद स्वीकार करती आयी हैं, 1966 की कोठारी कमीशन की रिपोर्ट तथा शिक्षा नीति 1968 ने बात की कि अगर सरकार सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत शिक्षा पर ख़र्च करती है तो समान स्कूल व्यवस्था के साथ अच्छी उच्च शिक्षा भी प्रदान की जा सकती है। फ़िनलैण्ड, जापान, ब्रिटेन, फ़्रांस, स्केन्डिनेवियन देशों में सरकारें अमीरपरस्ती के बावजूद जनता को निःशुल्क व समान शिक्षा का अधिकार दे सकती हैं तो 'डिजिटल इण्डिया' 'न्यू इण्डिया' की नौंटकी किसलिए?

हमें भी यह अधिकार हासिल करना होगा। दिल्ली में चलाया जा रहा 'स्कूल बचाओ अभियान' पूरे देश भर में सबको समान एवं निःशुल्क स्कूली शिक्षा की माँग करता है। अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच भी सबको समान एवं निशुल्क स्कूली शिक्षा का अभियान चल रहा है जिसमें तमाम छात्र-युवा और शिक्षकों के संगठन लामबद्ध है। मंच का मक़सद है कि बच्चे के लिए शिक्षा का बुनियादी अधिकार बिना किसी भेदभाव के सुनिश्चित करना सरकार की ज़िम्मेदारी है। यह सरकार ख़ुद हमसे वायदे करती आयी है पर हर बार मुनाफ़ाखोर कारपोरेट कम्पनियों को मुफ़्त ज़मीन, टैक्स माफ़ी व बेल आउट पैकेज़ पर सरकारी कोष लुटाया जाता है जो आसमान से नहीं टपकता बल्कि ग़रीब जनता की गाढ़ी कमाई से अप्रत्यक्ष कर वसूल करके यह सरकार हासिल करती है। ज्ञात हो कि कुल सरकारी ख़ज़ाने का लगभग 97 प्रतिशत हिस्सा इस देश की मेहनतकश जनता द्वारा अदा किये गये अप्रत्यक्ष कर (यानी गेहूँ, चावल, माचिस, चीनी, तेल ख़रीदने पर दिये जाने वाले कर) से आता है। ज़ाहिर है कि सरकार महज़ पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी है। 1947 से लेकर अबतक सरकारें बदलती रही हैं परन्तु सभी ने शिक्षा को एक नीति के आधार पर अमीरों तक सीमित रखा है। तथा 1990 के बाद से शिक्षा को खुलकर निजी हाथों को बेचने का सिलसिला शुरू हुआ है। आज शिक्षा बाज़ारू माल बन गयी है।

**सरहदों पर तनाव है क्या?**
**पता करो, चुनाव है क्या?**
**– राहत इन्दौरी**

# अन्धराष्ट्रवाद और नफ़रत की आँधी में बुनियादी सवालों को खोने नहीं देना है!

(पेज 1 से आगे)

लेकर वहाँ तक कैसे पहुँच गया? हमले के बाद जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल ने बेशर्मी से मान भी लिया कि ''गम्भीर चूक'' हुई है। लेकिन रणबाँकुरे ऐंकरों से लेकर सरकार चला रहे नेताओं तक कोई इन सवालों पर नहीं बोल रहा। यह स्थिति स्पष्टत: सन्देह पैदा करती है।

### घटनाक्रम हर दिन सन्देह को और गहरा बना रहा है

उत्तर भारत के अधिकांश शहरों में उन्मादी नारों के साथ जुलूस निकल रहे हैं। 'हमें नौकरी नहीं बदला चाहिए', 'भूखों रह लेंगे पर मोदीजी, बदला लो', 'आम चुनाव रोक दो, पाकिस्तान को ठोंक दो', 'देश को बचाओ मोदीजी को फिर से लाओ'... जैसे नारे लग रहे हैं। इन जुलूसों में मुसलमानों को ग़द्दार और पाकिस्तान-परस्त बताते हुए भी नारे लगाये जा रहे हैं और मुस्लिम आबादी की बस्तियों से गुज़रते हुए जानबूझकर तनाव उकसाने और आतंक पैदा करने की कोशिशें की जा रही हैं। जी न्यूज़, आजतक, रिपब्लिक टीवी, सुदर्शन आदि चैनल तो दिन-रात ज़हर उगल ही रहे हैं, भाड़े के साइबर प्रचारकों की फ़ौज व्हाट्सअप आदि के ज़रिये अफ़वाहों और फासिस्ट प्रचार का घटाटोप फैलाने में जुट गयी है।

घटना के तुरन्त बाद जम्मू से लेकर बिहार तक अनेक जगहों पर कश्मीरी लोगों पर हमले किये गये। उनकी दुकानें जलाई गयीं, घरों से भगाया जा रहा है। मुज़फ़्फ़रनगर की चीनी मिलों में काम करने वाले सैकड़ों कश्मीरी मज़दूरों को काम छोड़ने के लिए मजबूर किया गया। कश्मीर की बिगड़ी अर्थव्यवस्था और रोज़गार के अवसर नदारद होने के कारण बड़ी संख्या में ग़रीब कश्मीरी आबादी देशभर में छोटे-मोटे काम करके गुज़ारा कर रही है। हज़ारों कश्मीरी छात्र विभिन्न राज्यों में पढ़ाई कर रहे हैं। अधिकांश जगहों पर हिन्दुत्ववादी गुण्डों ने उन आम लोगों पर हमले किये। हमले में मारे गये जवानों के शवों के साथ कई भाजपा नेताओं ने बाकायदा रोड शो किये। गुजरात भाजपा के नेता और प्रवक्ता ने तो बेशर्मी के साथ साफ़ कह दिया कि इस समय देश में ''राष्ट्रवाद'' की लहर चल रही है और हमें इसे वोटों में बदलना है। साध्वी प्राची ने तो कह दिया कि ''जैसे मोदी ने गोधरा का नरसंहार कराया था, वैसे ही पाकिस्तान को सबक सिखाने के लिए फिर से कराना होगा।''

### लोग शोक में हैं पर भाजपाइयों के चेहरे क्यों खिले हुए हैं?

भाजपा का यह खेल इस समय तो सफल होता दिख रहा है। आम घरों के वे लोग भी सबकुछ भूलकर पाकिस्तान, मुसलमान और कश्मीरियों को गरियाने में लग गये हैं जो जी.एस.टी., नोटबंदी, रिकार्डतोड़ बेरोज़गारी और आसमान छूती मँहगाई से बेहद परेशान थे और मोदी सरकार को गालियाँ दे रहे थे। राफ़ेल मामले में रोज़ नये-नये भण्डाफोड़ों से चेहरे पर पुती कालिख और सी.बी.आई. काण्ड में सरकार की हुई फ़जीहत भी लोग भूल गये हैं। महागठबन्धन और प्रियंका के राजनीति में उतरने से माहौल बदलने से भाजपाई चिन्तित थे, 15 लाख वाले जुमले और रोज़गार के वादे के बारे में लोगों के सवालों के जवाब देते नहीं बन रहा था। पर अब ये सारी बातें फिलहाल हवा हो गयी हैं। इसीलिए पुलवामा की घटना के बाद भाजपाइयों के चेहरे खिले हुए हैं।

### यह समय उन्माद में पागल हो जाने का नहीं, ठण्डे दिमाग़ से सोचने का है।

कश्मीर की आम आबादी का बड़ा हिस्सा आज सेना और अर्द्धसैनिक बलों के विरोध में क्यों है? ख़ुद सेना की रिपोर्टें बताती हैं कि पिछले चार सालों में उग्रवादियों के साथ जाने वाले स्थानीय युवकों की संख्या बढ़ गयी है। ऐसा क्यों हुआ है? इतिहास से परिचित सभी जानते हैं कि कश्मीर के आम अवाम ने शेख़ अब्दुल्ला की अगुवाई में जिन्ना की साम्प्रदायिक राजनीति का विरोध किया था। अगर भारत की सरकारों ने संघात्मक ढाँचे को वास्तव में लागू किया होता, और कश्मीरी जनता के साथ किये करार को तोड़ा नहीं होता, साफ़-साफ़ वादाख़िलाफ़ी न की होती, तो कश्मीर की स्थिति ऐसी नहीं होती। 1948 में पाकिस्तानी सेना की मदद से कबायलियों के हमले के ख़िलाफ़ कश्मीरी अवाम ने भी लड़ाई लड़ी थी। उसके बाद भी घाटी में आतंकवाद का माहौल दशकों तक नहीं था हालांकि भारतीय राज्य के बर्ताव को लेकर असन्तोष पनप रहा था। 1953 में शेख अब्दुल्ला की सरकार को बर्खास्त करके उन्हें 11 वर्ष तक जेल में बन्द रखने और जितना भी बुर्जुआ लोकतांत्रिक स्पेस देश में था, उसे भी कश्मीर में लगातार कम करते जाने से यह असन्तोष और अविश्वास और बढ़ा। 1987 में फ़र्ज़ी चुनाव के बाद उग्रवादी गतिविधियाँ तेज़ी से बढ़ीं और 1990 से गर्वनर के रूप में जगमोहन के कार्यकाल के दौरान कश्मीरी जनता पर बर्बर दमन और अनेक भीषण गोलीकांडों में सेना के हाथों आम लोगों की मौत के बाद हालत बद से बदतर होते गये। पाकिस्तान को भी जमकर दखलन्दाज़ी करने का मौक़ा मिला।

आज सोशल मीडिया पर अनेक पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी भी पूरे कश्मीरी अवाम को ''एहसान फ़रामोश'' घोषित करके उन्हें सबक़ सिखाने की चीख़-चिल्लाहट में सुर मिला रहे हैं। उन्हें अपने दिमाग़ की नसें थोड़ी ढीली करके संजीदगी के साथ यह सोचना चाहिए कि कश्मीर में भी हमारी-आपकी तरह इंसान ही रहते हैं। सालों-साल अपमान और दमन का सिलसिला चलता रहेगा, हज़ारों गुमनाम क़ब्रों से घाटी भर जायेगी, बलात्कार और फ़र्ज़ी मुठभेडों में मासूमों की हत्याओं के दोषियों को बचाया जायेगा, बच्चों तक को मारा और प्रताड़ित किया जायेगा, और समाज में क्रान्तिकारी बदलाव का कोई रास्ता नज़र नहीं आयेगा, तो हताशा और प्रतिशोध की भावना आतंकवादियों के पैदा होने की ज़मीन तैयार करेगी ही।

कश्मीर घाटी पिछले लम्बे समय से दुनिया का सबसे ज़्यादा सैन्यकृत क्षेत्र बना हुआ है। हर 8 कश्मीरियों पर सेना का एक जवान वहाँ तैनात है। पुलवामा में मारे गये जवान देश के आम घरों के बेटे थे। ऐसी हर घटना में आम सिपाही ही मरते हैं। लेकिन ज़रा ठण्डे दिमाग़ से, व्हाट्सऐप संदेशों और टीवी चैनलों की हुंकार से भडकी उत्तेजना को किनारे रखकर सोचिये। ये सैनिक कश्मीर में पिकनिक मनाने नहीं जा रहे थे। भारतीय राज्य के दशकों से जारी दमनचक्र के मोहरे ही बनाकर भेजे गये थे वे। सिर्फ़ कश्मीर ही क्यों? उत्तर-पूर्व के राज्यों में जाकर देखिये। मणिपुर में जिन माँओं को सेना के ख़िलाफ़ नग्न प्रदर्शन करने पर मजबूर होना पड़ा था, वे देशद्रोही नहीं थीं। इरोम शर्मिला की 11 वर्ष चली भूख हड़ताल देशद्रोह नहीं थी। कश्मीर में कुनान पश्पोरा में उस भयानक रात के सामूहिक बलात्कारों की हक़ीक़त अब सबके सामने आ चुकी है। देश काग़ज़ पर बना नक़्शा नहीं होता। देश यहाँ रहने वाले लोगों से बनता है।

### अम्बानी, अडानी और डोभाल का पाकिस्तान से अरबों का व्यापार बनाम मोदी भक्तों की देशभक्ति!

पाकिस्तान को बर्बाद कर देने की चीख़-पुकार मोदी भक्तों को पता ही नहीं है कि मोदी के दोस्त अम्बानी और अडानी की कितने करोड़ डॉलर की पूँजी पाकिस्तान में लगी हुई है। राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजीत डोभाल के बेटे शौर्य डोभाल पाकिस्तानी नागरिक सैयद अली अब्बास और प्रिंस मिशाल बिन अबदुल्लाह बिन तुर्की बिन अबदुल्लाज़ीज़ अल साऊद के साथ मिलकर जेमिनी फाइनेंशियल सर्विसेज नामक कंपनी चलाते हैं। जूनियर डोभाल इंडिया फाउंडेशन नामक थिंक टैंक भी चलाता है जिसमें रक्षा मंत्री निर्मला सीतारमण सहित चार केन्द्रीय मंत्री निदेशक के तौर पर अपनी सेवाएँ दे रहे हैं। यानी एक पाकिस्तानी का बिज़नेस पार्टनर भारत सरकार के लिए नीतियाँ बनाने के काम में लगा हुआ है और उसका बाप राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार है। मोदी का एक और मित्र, देश की दूसरी सबसे बड़ी स्टील कम्पनी का मालिक सज्जन जिन्दल पाकिस्तानी प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ़ के साथ गुप्त मीटिंग करता है और बिरयानी खाने भी मोदी के साथ पाकिस्तान पहुँच जाता है। मगर इनसे कोई नहीं कहेगा कि पाकिस्तान से अपना धन्धा समेट लें। जंग-जंग चिल्ला रहे मीडिया को ये सारी ख़बर है लेकिन इस पर सब चुप्पी साधे हुए हैं।

और तो और, सऊदी अरब के कुख्यात ज़ालिम सुलतान प्रिंस सलमान के भारत आने पर छप्पन छुरी दाँत निपोरे हुए स्वागत करने हवाई अड्डे तक पहुँच गया। ये वही सलमान है जो अपने देश के एक पत्रकार की बर्बर हत्या कराने के बाद पूरी दुनिया में थू-थू का सामना कर रहा है और भारत आने से पहले पाकिस्तान को को हथियार खरीदने और ऊर्जा क्षेत्र में निवेश करने के लिए दो सौ करोड़ डॉलर का तोहफ़ा देकर आया था। दोनों हत्यारे नेताओं ने निहायत बेशर्मी के साथ आतंकवाद के बारे में जो साझा बयान जारी किया उसमें पाकिस्तान का नाम भी नहीं था।

इसलिए, यह साफ़ है कि चुनाव तक गरमागरम बातें ख़ूब होंगी, सीमा पर तनाव और कुछ झड़पें होगीं, आतंकियों के नाम पर कश्मीर में न जाने कितने बेगुनाह गोलियों से छलनी किये जायेंगे, पर पाकिस्तान पर हमला करके कोई बड़ी सैनिक कार्रवाई कत्तई नहीं होगी। अम्बानी, अडानी और डोभाल के लाल के व्यावसायिक हितों पर कोई चोट नहीं आयेगी। गन्दा है, पर धन्धा है। कश्मीर में भी लाशों का धन्धा है, जो भारत-पाकिस्तान दोनों के हुक्मरानों की ज़रूरत है। लाशें आम ग़रीबों के बेटों की ही गिरनी हैं, चाहे वे कश्मीर के आम लोग हों या फिर सी.आर.पी.एफ़., बी.एस.एफ़. और सेना के जवान। जितनी लाशें गिरेंगी, उतना ही देशभक्ति का जुनून उफ़ान मारेगा और उतना ही कमल खिलेगा।

यह भी समझ लीजिये कि अन्धराष्ट्रवाद और युद्धोन्माद की ज़रूरत जितनी भारत के शासक वर्गों को है, उतनी ही पाकिस्तान के शासक वर्गों को भी, जिसका एक ताक़तवर हिस्सा पाकिस्तानी सेना के जनरल भी हैं। पाकिस्तानी अर्थव्यवस्था की हालत बुरी है, लम्बे-चौड़ी बातें करके सत्ता में आये इमरान ख़ान को वहाँ के लोग भी जुमलेबाज़ और सेना की कठपुतली से ज़्यादा नहीं मान रहे। सीमा पर तनाव दोनों देशों के शासक वर्गों के हित में है। किसी भी अपराध के पीछे मकसद पता करने का एक तरीक़ा यह देखना है कि उससे किसका फ़ायदा हो रहा है। सीमा के इधर और उधर किसे फ़ायदा हो रहा है, यह देखना अब मुश्किल नहीं है।

### युद्ध चाहने वालो, युद्ध की कीमत भी पता है तुम्हें?

अन्धराष्ट्रवादी भावनाओं के जोश में मध्य वर्ग ही नहीं, मज़दूर वर्ग के भी जो लोग युद्ध छेड़ देने के सुर में सुर मिलाये हुए हैं, उन्हें ज़रा दो पल ठहर कर सोचना चाहिए कि युद्ध हुआ तो उन्हें क्या मिलेगा? कारगिल युद्ध के कारण अर्थव्यवस्था पर करीब 10 हज़ार करोड़ का अतिरिक्त बोझ पड़ा था और नई सैनिक चौकियों तथा अन्य नियमित सामरिक ख़र्चों के रूप में हज़ारों करोड़ का सालाना ख़र्च बढ़ गया था। पिछले कुछ वर्षों से सरकार का फ़ौजी ख़र्च लगातार बढ़ता ही रहा है। फ़ौजी ख़र्च अभी ही स्वास्थ्य, शिक्षा और तमाम सामाजिक सेवाओं पर होने वाले कुल ख़र्च के तीन गुने से भी अधिक रहा है। यह अलग बात है कि इस भारी-भरकम सैन्य ख़र्च के बावजूद न तो सीमाओं पर घुसपैठ रुकी, न आतंकवादी घटनाएँ और न ही समय-समय पर दोनों ओर से होती रहने वाली गोलीबारी।

दोनों देशों के अख़बार-टीवी-फ़िल्में आदि एक-दूसरे के ख़िलाफ़ लगातार नफ़रत और अन्धराष्ट्रवाद फैलाते रहते हैं। सीमा पर तनाव बनाया रखा जाता है और अरबों-खरबों के भारी खर्चे से युद्ध की तैयारियाँ जारी रहती हैं। लगातार बढ़ते फ़ौजी ख़र्च का बोझ दोनों देशों की जनता ही उठाती है। दोनों देशों के पूँजीपतियों का आपसी कारोबार भी जारी रहता है और सैनिक कार्रवाइयों की किसी भी तरह की कीमत चुकाना तो दूर, वे इनसे भी जमकर मुनाफ़ा कमाते हैं। दोनों तरफ़ की सरकारें जनता को यह पट्टी पढ़ाती रहती हैं कि उनकी समस्याओं का मूल कारण साम्राज्यवाद और पूँजीवाद नहीं, बल्कि पड़ोसी ''दुश्मन देश'' की कार्रवाइयाँ हैं।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के किसानों-मज़दूरों और आम लोगों की आपस में कोई दुश्मनी नहीं है। दोनों देशों की जनता अपने-अपने शासक वर्गों की लूट का शिकार है। दोनों देशों में पूँजीवादी व्यवस्था का संकट लाइलाज बीमारी बन चुका है जिसकी कीमत जनता कमरतोड़ महँगाई और बढ़ती बेरोज़गारी के रूप में चुका रही है। निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के विनाशकारी नतीजे दोनों देशों के लोग झेल रहे हैं और आम जनता का बढ़ता असन्तोष बार-बार सड़कों पर फूट रहा है जिससे दोनों के हुक्मरानों की नींद हराम है। इस स्थिति से जनता का ध्यान भटकाने के लिए सीमा पर तनाव बनाये रखना और अन्धराष्ट्रवाद को हवा देते रहना हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दोनों के शासकों के लिए रामबाण नुस्खा रहा है।

पब्लिक सेक्टर के विशाल सामरिक उद्योग तो सेना को कल-पुर्ज़े, हथियार आदि सप्लाई करते ही हैं, दुनिया के सभी साम्राज्यवादी देशों की हथियार-निर्माता कम्पनियों से ख़रीदारी करने वाले तीसरी दुनिया के देशों में भारत सबसे आगे है। और अब तो रक्षा क्षेत्र में भी निजी कम्पनियों को भागीदारी करने के दरवाज़े खोल दिये गये हैं। बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की कीमत पर निजी पूँजीपतियों को बढ़ावा दिया जा रहा है जिसकी सबसे नंगी मिसाल राफ़ेल घोटाला है। आज पूरी दुनिया के साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ संकट में हैं। युद्धों में होने वाली तबाही और हथियारों की बिक्री उनके संकट को दूर करने में हमेशा काम आते हैं। ये साम्राज्यवादी गिद्ध भी चाहते हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप में सैनिक तनाव की आग सुलगती रहे। अगर युद्ध भड़कता है तब तो साम्राज्यवादी गिद्धों की बन आयेगी। दोनों तरफ़ की सरकारें जनता का पेट काटकर जमकर हथियार

(पेज 7 पर जारी)

# अन्धराष्ट्रवाद और नफ़रत की आँधी में बुनियादी सवालों को खोने नहीं देना है!

(पेज 6 से आगे)

ख़रीदेंगी और अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी के साम्राज्यवादियों को अपना संकट थोड़ा और टालने का मौक़ा मिल जायेगा।

मगर इस सबकी कीमत कौन चुकाता है? शहरी और ग्रामीण मध्य वर्ग और सबसे बढ़कर वह भारी मेहनतकश आबादी जो ज़िन्दगी की बुनियादी ज़रूरतों से भी वंचित है। ''देशभक्ति'' का सम्मोहन मंत्र फूँककर फ़ौजी ख़र्च जुटाने के लिए जनता की नस-नस से ख़ून निचोड़ लिया जाता है। कभी आपने सुना कि किसी पूँजीपति या किसी नेता ने युद्ध के लिए अपने ऐयाशी भरे ख़र्चों में कोई कटौती कर दी हो? फ़िल्मी सितारों और नवधनाढ्यों की शानो-शौकत भरी पार्टियों में कमी आयी हो, उनमें बहने वाली शराब में कोई कटौती हुई हो? नहीं! उल्टे, ये लोग ''देशभक्ति'' को भी तरह-तरह से बेचकर करोड़ों की कमाई करते हैं।

पहले से सरकार भयानक वित्तीय घाटे में दबी हुई है जिसका असली कारण है पूँजीपतियों को दी जाने वाली भारी रियायतें और नेताशाही-अफ़सरशाही की ऐयाशियाँ। चुनाव के ऐन पहले रिज़र्व बैंक से भी 28,000 करोड़ ऐंठ लिये गये हैं। ऐसे में बढ़े हुए फ़ौजी ख़र्च की वसूली के लिए चुनाव के बाद करों का बोझ – ख़ासकर परोक्ष करों का बोझ बढ़ेगा। बचे-खुचे सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को भी देशी-विदेशी पूँजीपतियों को औने-पौने दामों पर बेचकर कुछ खराब जुटाने की कोशिश की जायेगी। स्टील अथॉरिटी ऑफ़ इण्डिया के तीन कारख़ानों को बेचने की घोषणा हो भी चुकी है। लेकिन इतना भी काफ़ी नहीं होगा।

सबसे सही तो यही होता कि सरकार ''देशभक्ति'' से बजबजाते कॉरपोरेट घरानों, दूसरे धनी वर्गों, ''देशभक्ति'' बेचकर मोटी कमाई करने वाले टीवी चैनलों के मालिकों, फ़िल्मी सितारों और जंग-जंग का नारा लगा रहे ख़ुशहाल मध्य वर्ग पर ''युद्ध टैक्स'' या ''पाकिस्तान टैक्स'' लगा देती। लेकिन यह सरकार तो इन्हीं वर्गों की चाकर है। यह भला ऐसा कैसे करेगी? फिर तो यही उपाय बाक़ी बचता है कि सरकार केन्द्रीय आयोजना ख़र्च में पहले से हो रही कटौती की गति को और तेज़ कर दे। इसका सीधा मतलब होगा कि शिक्षा, स्वास्थ्य, ग़रीबी उन्मूलन, रोज़गार, बिजली उत्पादन, सिंचाई सुविधाओं के विस्तार, कृषि उत्पादकता में वृद्धि, रेल और यातायात सुरक्षा जैसे मदों में और कटौती की जाये। इससे भी जो कसर रह जायेगी, उसे पूरा करने के लिए विदेशी क़र्ज़ का रास्ता है, जिसके लिए साम्राज्यवादी तगड़ी शर्तें रखेंगे और इन क़र्ज़ों को चुकाने के लिए भी जनता की जेब पर ही डाका डाला जायेगा।

यह होगी उस बहुप्रचारित युद्धपिपासु ''देशभक्ति'' की कीमत, जिसे अपने ख़ून का क़तरा-क़तरा निचोड़कर देश की मेहनतकश जनता को चुकाना होगा। इतने तथ्यों से अगर किसी को अन्धराष्ट्रवादी सनक की असलियत न साफ़ हो तो आने वाले दिनों की हक़ीक़त उसे इसका अहसास बख़ूबी करा देगी।

देश काग़ज़ पर बना नक़्शा नहीं होता

क्रान्तिकारी शक्तियों को मज़दूरों-ग़रीब किसानों और तमाम मेहनतकश लोगों को उन सच्चाइयों से वाकिफ़ कराना होगा जो अन्धराष्ट्रवादी, आक्रामक युद्धोन्मादी शोर में डूबकर रह जाती हैं। सरहदों पर आम मज़दूरों-किसानों के बेटों की लाशें गिरती रहती हैं और देश की नहीं बल्कि शासक वर्गों के हितों की हिफ़ाज़त होती रहती है। सत्ता में बैठे लोग बेशर्मी के साथ देश के हितों को पूँजीपतियों के हाथों में बेचते रहते हैं। सरहदों पर जिन आम लोगों के बेटों की लाशें गिरती हैं, उन्हीं के परिवारों को हाड़ गलाकर पूँजीपतियों की तिजोरी भरनी होती है और युद्ध की कीमत भी चुकानी होती है क्योंकि 'हर वर्दी के नीचे एक किसान है, एक मज़दूर है।'

हमें मेहनतकश जनता को यह बात बतानी ही होगी कि ''देश काग़ज़ पर बना नक़्शा नहीं होता''। देशभक्ति के नाम पर क़ुर्बान उन्हें ही किया जाता है, जो ग़रीबी-महँगाई-बेरोज़गारी से लड़ते-लड़ते रोज़ तिल-तिल करके मरते रहते हैं। फिर उनकी मौतों पर झण्डा लहरा कर, सलामी देकर और परिजनों को चन्द चाँदी के सिक्के थमाकर सरकार हाथ झाड़ लेती है। बहुतों के तो परिजन पेंशन और सरकारी वादों के अमल के लिए भी बरसों तक दर-दर की ठोकरें खाते रहते हैं। कोई भी देश वहाँ रहने वाले आम अवाम से मिलकर बनता है और उसके हितों की पूर्ति ही असली देशभक्ति होती है।

हमें लोगों को बताना होगा कि पूँजीपति वर्ग का राष्ट्रवाद मण्डी में पैदा होता है और देशभक्ति उसके लिए महज़ बाज़ार में बिकने वाला एक माल है। आक्रामक राष्ट्रवाद पूँजीपति वर्ग की राजनीति का एक लक्षण होता है और सभी देशों के पूँजीपति अपनी औकात के हिसाब से विस्तारवादी मंसूबे रखते हैं। अगर इस सरकार को सच्ची देशभक्ति दिखानी ही है तो उसे सभी लुटेरे साम्राज्यवादी देशों की पूँजी ज़ब्त कर लेनी चाहिए और सभी विदेशी क़र्ज़ों को मंसूख़ कर देना चाहिए जिसके बदले में कई-कई गुना ब्याज ये हमसे वसूल चुके हैं। लेकिन कोई भी पूँजीवादी सरकार भला ऐसा कैसे करेगी!

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच लड़ाई तो वैसे भी अंग्रेज़ों की दी हुई विरासत है और दोनों देशों के पूँजीपतियों के हित में है कि वे इसे बरकरार रखें। दोनों देशों के पूँजीपतियों की दुश्मनी आपसी हितों के टकराव को लेकर है, पर दोनों ही पहले अपने-अपने देशों की मेहनतकश जनता के दुश्मन हैं जिसे वे लूटते हैं, दबाते-कुचलते हैं और उन्हीं के बेटों को सरहद पर लड़ने के लिए भेजते हैं। आम जनता के बेटों को फ़ौजी नौकरशाहों का ग़ुलाम बनाकर जो सेना तैयार की जाती है, उसका इस्तेमाल देश की जनता के ऊपर भी उस समय बेहिचक किया जाता है, जब वह अपने अधिकार माँगने के लिए उठ खड़ी होती है।

मेहनतकश जनता को यह बताना होगा कि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के मज़दूरों-किसानों की आपस में कोई दुश्मनी हो ही नहीं सकती। दोनों की लड़ाई ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई, ज़ोरो-ज़ुल्म की जननी पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ है। दोनों को अपने-अपने देशों में पूँजीवाद से लड़ना है। इसी असली जंग पर परदा डालने के लिए सरहदों पर जंग का जुनून पैदा किया जाता है। मेहनतकश जनता को इसी असली लड़ाई के बारे में बताना होगा और इसी की तैयारी करनी होगी।

# संगठित होकर ही बदल सकती है घरेलू मज़दूरों की बुरी हालत

सन् 2008 में 'सोशल अलर्ट' द्वारा जारी एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में घरेलू मज़दूरों की कुल संख्या 10 करोड़ के क़रीब है। बढ़ते शहरीकरण के साथ यह संख्या और बढ़ी ही होगी। इसमें बड़ी संख्या औरतों की है और साथ ही लाखों बच्चे भी शामिल हैं। पिछले तीन दशकों में घरेलू मज़दूरों की संख्या तेज़ी से बढ़ी है। इस दौरान भारत में तेज़ी से पूँजीवादी विकास हुआ है। पूँजीपतियों के ऐशो-आराम के लिए ख़र्च में भी बढ़ोतरी हुई है। इस दौरान मध्यवर्ग की संख्या और इस तबक़े की सम्पत्ति में भी इज़ाफ़ा हुआ है। मोटी तनख़्वाहों के रूप में मज़दूर वर्ग की लूट में हिस्सा पाने वाला यह तबका बड़ी संख्या में मज़दूरों को घरेलू कामों पर लगाता जाता है। मज़दूरों से घरों का काम सख़्ती से कराया जाता है लेकिन उसके अनुसार मज़दूरों को उनकी मेहनत का पूरा दाम नहीं दिया जाता।

"घरेलू नौकर" कहे जाने वाले इन मज़दूरों को भारतीय क़ानून मज़दूर नहीं मानता।

घरेलू मज़दूरों के लिए ठेका क़ानून भी लागू नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि अमीरों के घरों में झाड़ू-पोचा, खाना बनाने, कपड़े धोने, बच्चों को सँभालने, टाँगें दबाने, मालिश करने, बग़ीचों की देखभाल करने, घरों के बड़ी संख्या में छोटे-मोटे काम करने वाले इन मज़दूरों के लिए भारतीय क़ानून न तो काम के घण्टे तय करता है और न ही न्यूनतम वेतन। काम के घण्टे और वेतन मालिक ही तय करता है। काम करने का सबूत, ईएसआई, ईपीएफ़, सुरक्षा, आदि सम्बन्धी किसी भी तरह का क़ानूनी श्रम अधिकार भारतीय क़ानूनों में घरेलू मज़दूरों के लिए दर्ज नहीं है।

घरेलू मज़दूरों की एक बड़ी संख्या ऐसी है जिन्हें घर के अन्दर ही रहने को छोटा-मोटा कमरा दे दिया जाता है या उनके रहने के लिए काम-चलाऊ जगह बना दी जाती है। इनमें बहुत सारे मज़दूर ऐसे होते हैं जिनके परिवार भी साथ रहते हैं। इन मज़दूरों से 14-14, 18-18 घण्टे काम लिया जाना आम बात है। जो मज़दूर परिवारों समेत काम की जगहों पर रहते हैं उनके परिवार, यहाँ तक कि बच्चों से भी आने-बहाने काम लिया जाता है। बहुतेरे घरेलू मज़दूरों को गुज़ारे के लिए कई घरों में काम करना पड़ता है। सभी घरेलू मज़दूरों को उनकी मेहनत का मूल्य बहुत कम मिलता है। और तो और कराये गये काम के पैसे भी दबा लेना आम बात है। भारत में काम करने वाले कुल बच्चों में से 20 प्रतिशत घरेलू काम करते हैं। घरेलू काम करने वाले ज़्यादातर बाल मज़दूरों की मासिक कमाई हज़ार दो हज़ार से ज़्यादा नहीं होती। घरेलू मज़दूरों को, ख़ासकर बच्चों को छुट्टी तक न देना आम बात है।

बड़े महानगरों में कई निजी ठेका कम्पनियाँ भी बन चुकी हैं, जो गाँवों और छोटे शहरों से आने वाले बेरोज़गार लोगों की मजबूरी का फ़ायदा उठाते हैं। ये कम्पनियाँ ठेके पर घरेलू मज़दूर मुहैया कराती हैं। ये कम्पनियाँ काम कराने वालों से तो पैसा लेती ही हैं बल्कि मज़दूरों से भी काफ़ी पैसे ले लेती हैं। ऐसी कुछ कम्पनियाँ तो पहले महीने का पूरा वेतन ही दबा लेती हैं। कई कम्पनियाँ ऐसी हैं जो छोटे क़स्बों/शहरों और गाँवों से मज़दूरों को अच्छा वेतन और आरामदायक काम का लालच देकर महानगरों में ले आती हैं। जब उनपर घरेलू मज़दूरों की काम थोपा जाता है तो वे ठगे महसूस करते हैं।

घरेलू मज़दूरों के सिर्फ़ श्रम की ही लूट नहीं होती बल्कि उन्हें बुरे व्यवहार का सामना भी करना पड़ता है। गाली-गलोच, मारपीट आदि आम बात है। जाति, क्षेत्र, धर्म आधारित भेदभाव का बड़े स्तर पर सामना करना पड़ता है। घरेलू स्त्री मज़दूरों को शारीरिक शोषण का सामना भी करना पड़ता है। चोरी-डकैती के मामले में सबसे पहले शक इन मज़दूरों पर ही किया जाता है और उन्हें मालिकों और पुलिस द्वारा प्रताड़ित किया जाता है।

घरेलू मज़दूरों की इस दुर्दशा में सुधार कैसे हो सकता है? बेशक काम की परिस्थितियों में किसी भी स्तर के सुधार के लिए उनका अपने अधिकारों के लिए जागरूक होने, संगठित होकर संघर्ष की राह चलना ज़रूरी है। इसके बिना वे अपने छोटे-छोटे मसले भी हल नहीं करवा सकते। देश में घरेलू मज़दूरों के कुछ संगठन सक्रिय हैं। घरेलू मज़दूरों में जागरूकता और संगठनों की सब सीमाओं के बावजूद तमिलनाडु, महाराष्ट्र, केरल, आन्ध्र प्रदेश जैसे राज्यों में सरकारें घरेलू मज़दूरों को कुछ क़ानूनी अधिकार देने के लिए मजबूर हुई हैं।

सन् 2001 में दिल्ली में मज़दूरों के एक बड़े जुटान ने भारत सरकार को 'भारत के मज़दूरों का माँगपत्र-2011' सौंपा था। इस माँगपत्र में घरेलू मज़दूरों की माँगें भी शामिल की गयी हैं। इन माँग-मसलों पर भारत के घरेलू मज़दूरों को संघर्ष करना चाहिए। बेशक इसकी कोशिशें हुई हैं लेकिन अभी पर्याप्त नहीं हैं।

'भारत के मज़दूरों का माँगपत्र' में ये माँगें उठायी गयी हैं। घरेलू मज़दूरों के पंजीकरण का पुख्ता प्रबन्ध करके उन्हें कार्ड जारी किये जायें और ठेका मज़दूरों के लिए बने सारे श्रम क़ानून (जिनमें न्यूनतम वेतन, आठ घण्टे का कार्यदिवस, ईएसआई, ईपीएफ़, आदि सम्बन्धी अधिकार शामिल हैं) भी लागू हों। काम के घण्टे, ओवरटाइम, पीएफ़, ईएसआई, स्वास्थ्य और सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार और स्त्री मज़दूरों के विशेष अधिकारों सहित ग़ैर-संगठित मज़दूरों के अन्य किसी भी हिस्से के सारे क़ानूनी अधिकार घरेलू मज़दूरों को दिये जाने की माँग भी इसमें शामिल है। एक माँग यह भी है कि विभिन्न घरों में काम करने वाले घरेलू मज़दूरों का न्यूनतम वेतन घण्टों के हिसाब से तय हो। न्यूनतम मज़दूरी की सरकारी दर एक दिन के काम से तय होती है लेकिन घरेलू मज़दूरों के एक बड़े हिस्से को एक ही दिन में कई घरों में काम करना पड़ता है। इसलिए उनका न्यूनतम वेतन घण्टों के हिसाब से तय होना चाहिए।

'मज़दूर माँगपत्र' में यह बिल्कुल वाजिब माँग उठायी गयी है कि घरेलू मज़दूरों के लिए कल्याणकारी योजनाओं के लिए अधिक आय वाले परिवारों पर या ऐशो-आराम की चीज़ों की ख़रीदारी पर विशेष टैक्स लगाकर धन की व्यवस्था की जाये। उनके पीएफ़ और ईएसआई के लिए सरकार और मालिक पैसा दें। संसद में लटके घरेलू मज़दूर (पंजीकरण, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण) बिल, 2008 की कमियों को दूर करके इसे जल्द से जल्द पारित किया जाये। केन्द्र सरकार की तरफ़ से सभी राज्यों के मज़दूरों के सारे श्रम अधिकारों और सामाजिक सुरक्षा के लिए क़ानून बनाने का निर्देश देने की माँग भी उठायी गयी है। यह माँग भी की गयी है कि जिन राज्यों में पहले से ही ऐसे क़ानून मौजूद हैं, उनकी कमियों को दूर करके प्रभावी बनाया जाये और सारे देश में इससे सम्बन्धित क़ानूनों में सम्भव समानता लाई जाये।

घरेलू मज़दूरों से सम्बन्धित क़ानूनों को लागू करवाने की गारण्टी की जानी चाहिए। इसके लिए सहायक श्रम आयुक्त कार्यालय के स्तर पर विशेष इंस्पेक्टरों की नियुक्ति करे और विशेष निगरानी समितियाँ बनायी जायें। इन समितियों में घरेलू मज़दूरों, स्त्री मज़दूरों, स्त्री संगठनों, मज़दूर संगठनों, मालिकों के प्रतिनिधि और नागरिक अधिकारों के लिए सक्रिय कार्यकर्ता शामिल होने चाहिए। इस क़ानून में घरेलू मज़दूरों को ट्रेड यूनियन बनाने का अधिकार भी शामिल हो। उनकी यूनियनों का पंजीकरण हो। इससे सम्बन्धी ट्रेड यूनियन क़ानून में आवश्यक संशोधन हो। यूनियन पंजीकरण की प्रक्रिया सरल, तेज़, और पारदर्शी बनायी जाये।

मज़दूर अधिकारों के लिए सक्रिय संगठनों और कार्यकर्ताओं के लिए घरेलू मज़दूरों को जागरूक और संगठित करना एक चुनौतीपूर्ण काम है। घरेलू मज़दूरों को उपरोक्त माँग-मसलों पर संगठित करने के लिए लगातार सघन प्रचार-प्रसार की ज़रूरत है। घरेलू मज़दूरों की एकजुटता ही उनकी परिस्थितियों में सुधार की गारण्टी कर सकती है।

**- रणबीर**

# बेरोज़गारी की विकराल स्थिति और सरकारी जुमलेबाज़ियाँ व झूठ

## 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून (बसनेगा) अभियान' की ओर से जारी रिपोर्ट 'ज़मीनी हक़ीक़त' पर आधारित

(पेज 1 से आगे)

लगता है, या सुबह से रात तक शहर के चक्कर लगाते हुए घरों-दफ़्तरों में पैकेट और खाना पहुँचाता है। ज़ाहिर है कि जीविका कमाने के ये प्रयास उन्हें ग़रीबी, कुपोषण, अशिक्षा, भुखमरी और बीमारी के हालात में मुश्किल से जीवित भर रख पाते हैं। क्या इसे रोज़गार कहा जा सकता है? नहीं! रोज़गार का अर्थ है पक्के काम की गारण्टी जो आपको एक इंसानी ज़िन्दगी दे सकते, इज़्ज़त के साथ सिर उठाकर जीने का अधिकार दे सके, अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा, दवा-इलाज और आवास का अधिकार दे सके। यदि रोज़गार की इस परिभाषा को लागू करें तो देश के क़रीब 28 से 30 करोड़ लोग या तो सीधे-सीधे बेरोज़गार हैं, या फिर अर्द्धबेरोज़गार हैं। क्या बेरोज़गारी कोई प्राकृतिक आपदा है, जिसे रोका नहीं जा सकता है? नहीं। तो फिर बेरोज़गारी के लिए ज़िम्मेदार कौन है? आख़िर समाज में बेरोज़गारी का कारण क्या है? क्या बेरोज़गारी की समस्या का कोई समाधान सम्भव है? अगर हाँ, तो फिर वह समाधान क्या है?

### बेरोज़गारी की भयावह तस्वीर : सरकारी व ग़ैर-सरकारी संस्थाओं के आँकड़ों के आईने में

अब यह बिल्कुल साफ़ हो चुका है कि मोदी सरकार ने बेरोज़गारी के तमाम आँकड़ों को दबाने का प्रयास किया है। पहले उसने लेबर ब्यूरो के रोज़गार सर्वेक्षण पर रोक लगा दी; फिर अभी हाल में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के बेरोज़गारी के आँकड़ों को प्रकाशित करने से तरह-तरह के बहाने करके इंकार कर दिया, जिसके विरोध में राष्ट्रीय सांख्यिकी आयोग के दो शीर्ष विशेषज्ञों ने इस्तीफ़ा भी दे दिया। लेकिन बेरोज़गारी की हालत इतनी ख़राब है कि आँकड़ों की तमाम बाजीगरी और झूठ-फ़रेब के बावजूद कुछ आँकड़े सामने आ ही जाते हैं। आइए राष्ट्रीय स्तर के इन आँकड़ों पर एक निगाह डालते हैं।

आख़िरी उपलब्ध सरकारी आँकड़े 2011-12 और 2016-17 के बीच के हैं। इस पूरे दौर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी है। विशेष तौर पर, 2016 के बाद, यानी नोटबन्दी और जीएसटी के लागू होने के बाद से बेरोज़गारी में तीव्र बढ़ोत्तरी हुई है। न सिर्फ़ औपचारिक क्षेत्र के रोज़गारों में भारी कमी आयी है, बल्कि अनौपचारिक क्षेत्र के रोज़गार भी घटे हैं, जिसमें पकौड़ा तलने वाले, पान बेचने वाले, ऑटो चलाने वाले आदि भी शामिल हैं! सबसे ज़्यादा कमी स्त्रियों के रोज़गार में आयी है। उन्हें जो रोज़गार मिले भी हैं, वे सबसे असुरक्षित, कम मज़दूरी वाले, और घरेलू उद्योग जैसे क्षेत्रों में मिले हैं, जिन्हें सही मायने में रोज़गार कहा भी नहीं जा सकता है। हमारे देश में खुली बेरोज़गारी दर तो हमेशा से कम दिखायी जाती रही है, जिसका कारण यह है कि हमारे देश में बेरोज़गारी से सामाजिक सुरक्षा हेतु कोई बेरोज़गारी लाभ जैसी व्यवस्था ही नहीं है। यही कारण है कि एक बहुत बड़ी बेरोज़गार आबादी कुछ न कुछ काम करके एक-दो वक़्त की रोटी का इन्तज़ाम करने को मजबूर है, जैसे, गाड़ियाँ धोना, बीड़ी-सिगरेट-मसाला बेचना, रेड लाइट पर गाड़ी के शीशे साफ़ करना, कूड़ा बटोरना, छोटी-मोटी चीज़ों की फ़ेरी लगाना आदि। ये किसी भी तरह रोज़गार नहीं है।

देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न तरह के आँकड़े इकट्ठा करने वाली एक अन्य सापेक्षिक रूप से विश्वसनीय संस्था है 'सेण्टर फ़ॉर मॉनीटरिंग इण्डियन इकॉनमी' (सीएमआईई)। इसके कुछ आँकड़ों पर निगाह डालते हैं। नवम्बर 2016 तक कुल रोज़गारशुदा लोगों की तादाद भारत में 40.6 करोड़ थी। यह नोटबन्दी के प्रभाव के कारण दिसम्बर 2018 में 39.7 करोड़ रह गयी। यानी कि नौकरियों की संख्या में शुद्ध रूप से आयी कमी क़रीब 1 करोड़ की थी। वैसे विभिन्न रिपोर्टें बताती हैं कि नोटबन्दी के कारण कुल 2 करोड़ से ज़्यादा लोगों के काम-धन्धे छूट गये। इस आँकड़े की गम्भीरता तब समझ में आती है जबकि हम यह भी ध्यान में रखें कि हमारे देश में हर वर्ष क़रीब 1.3 करोड़ नये लोग श्रम बाज़ार में प्रवेश करते हैं। अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के 'सेण्टर फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेण्ट' के अनुसार समूची बेरोज़गार आबादी में 60 प्रतिशत लोगों की उम्र 15 से 29 वर्ष के बीच है, जबकि इस आयु समूह के लोगों का देश की कुल आबादी में हिस्सा मात्र 30 प्रतिशत है। इससे समझा जा सकता है कि नौजवानों के बीच बेरोज़गारी की हालत कितनी गम्भीर है। ध्यान रखें कि इन तमाम रिपोर्टों में बेरोज़गार उन्हें कहा गया है जो कि नौकरी की तलाश में हैं, लेकिन पिछले छह माह से उनके पास कोई काम नहीं है। सीएमआईई का कहना है कि इस परिभाषा के अनुसार दिसम्बर 2018 में बेरोज़गारी दर 7.4 प्रतिशत तक पहुँच चुकी थी।

लेबर ब्यूरो के आख़िरी आँकड़े के अनुसार, 2014 और 2016 के बीच 15 वर्ष से अधिक आयु वाले 37.4 लाख लोगों ने रोज़गार खोया। ये आँकड़े जिन आठ सेक्टरों के बारे में थे, उनमें से केवल एक सेक्टर यानी ख़ुदरा व थोक व्यापार के सेक्टर में नौकरियों की संख्या में हल्की वृद्धि हुई, बाक़ी सभी में घटी। हम जानते हैं कि ख़ुदरा व थोक व्यापार में मिलने वाला काम किस तरह का होता है। यह सबसे कम वेतन वाला सबसे असुरक्षित क़िस्म का काम होता है जो कि लोग आमतौर पर तब करते हैं जबकि उन्हें कोई और विकल्प नहीं मिलता। कुल मिलाकर मोदी सरकार के पहले दो वर्षों में ही क़रीब 37.4 लाख लोग नौकरियों से हाथ धो बैठे थे। लेबर ब्यूरो की इसके बाद की रिपोर्ट को मोदी सरकार ने दबा दिया और इसके आगे के सर्वेक्षणों को भी रोक दिया।

मोदी सरकार ने एनएसएसओ के सावधिक श्रम शक्ति सर्वेक्षण को तो जारी रहने दिया लेकिन उसके भी आख़िरी सर्वेक्षण की रपट को मोदी सरकार ने दबा दिया, हालाँकि वह रिपोर्ट लीक हो गयी। इसी रिपोर्ट से यह पता चला कि देश में बेरोज़गारी पिछले पाँच दशकों के चरम पर है। यह छह प्रतिशत को भी पार कर चुकी है। ग्रामीण युवाओं में बेरोज़गारी की दर 2004-05 के 3.9 प्रतिशत से बढ़कर 2017-18 में 17.4 प्रतिशत पहुँच चुकी है। ग्रामीण युवतियों में इसी दौरान बेरोज़गारी दर 4.2 प्रतिशत से बढ़कर 13.6 प्रतिशत पहुँच चुकी है। इसी दौर में शहरी युवाओं के बीच बेरोज़गारी की दर 8.8 प्रतिशत से बढ़कर 18.7 प्रतिशत और शहरी युवतियों में यह 14.9 प्रतिशत से बढ़कर 27.2 प्रतिशत पहुँच चुकी है।

स्थायी और पक्के रोज़गार लगातार घट रहे हैं। मोदी सरकार के कार्यकाल में ही केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की संख्या में 75,231 की कमी आयी। इसके अलावा, देशभर में लगभग 25 लाख सरकारी पद ख़ाली हैं जिनमें प्राइमरी से लेकर विश्वविद्यालय तक के शिक्षकों के ही क़रीब 10 लाख पद हैं। स्त्रियों के रोज़गार में आयी कमी मोदी सरकार के कार्यकाल की एक अन्य ख़ासियत है। शहरों में 18 से 25 वर्ष की औरतों के बीच बेरोज़गारी दर 30 प्रतिशत के क़रीब पहुँच रही है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार, भारत में अभी केवल 3.1 करोड़ बेरोज़गार हैं। लेकिन क्या आप जानते हैं कि यदि किसी व्यक्ति के पास आँकड़े जुटाते समय पिछले एक वर्ष में एक माह का किसी भी तरह का रोज़गार रहा हो, तो उसे बेरोज़गार नहीं माना जाता है! यानी चाहे आप पिछले ग्यारह महीने से ख़ाली बैठे हों, लेकिन अगर 11 महीने पहले आपके पास 30 दिनों तक कोई रोज़गार था तो आपको बेरोज़गार नहीं माना जायेगा! इसी तरह से हमारे देश की सरकारें अपनी नाकामियों को छिपाती हैं। अब ज़रा कुछ और आँकड़ों पर ग़ौर करें : देश के 77 प्रतिशत परिवारों के पास कोई नियमित रोज़गार वाला सदस्य नहीं है और 67 प्रतिशत परिवारों की प्रति माह आमदनी 11 हज़ार रुपये से कम है। भारत के 49 करोड़ से भी ज़्यादा मज़दूरों में से 94 प्रतिशत ठेका, दिहाड़ी या कैज़ुअल के तौर पर काम करते हैं, जिनके पास कोई पक्का रोज़गार नहीं और इनमें से बहुतेरे लोग हर साल काफ़ी समय तक काम छूटने के कारण ठेला लगाने, फेरी लगाने, रिक्शा चलाने जैसे काम करने के लिए मजबूर होते हैं जिनसे बमुश्किल वे अपना और परिवार का पेट भर पाते हैं। इन सभी आँकड़ों को ध्यान में लें, तो बेरोज़गारों और अर्द्धबेरोज़गारों की तादाद 25 करोड़ से ज़्यादा ही बैठेगी। लगातार बेरोज़गारी का सामने करने वालों की तादाद भी 10 करोड़ से कम नहीं होगी।

ज़ाहिर है, केवल ख़ाली सरकारी पदों को भरने से समस्या का समाधान नहीं होगा, लेकिन तात्कालिक तौर पर यह भी एक बड़ा क़दम होगा। देश में क़रीब 25 लाख सरकारी पद ख़ाली पड़े हैं, जिनमें से 4.2 लाख केन्द्र सरकार में हैं। पुलिस विभाग में कुल 5.49 लाख पद, प्राइमरी अध्यापकों के 5.23 लाख पद, 2.36 लाख आँगनवाड़ी कर्मियों के पद, रेलवे में सुरक्षा से जुड़े 2.23 लाख पद, डॉक्टरों व स्वास्थ्यकर्मियों के क़रीब 41 हज़ार पद, डाक विभाग में 49 हज़ार पद, आयकर विभाग में 32 हज़ार पद, गृह मन्त्रालय में 78 हज़ार पद ख़ाली हैं। इतने पद भी तब ख़ाली हैं जब अनेक सरकारी विभागों में बड़े पैमाने पर पद ही ख़त्म कर दिये गये हैं। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग भी शामिल नहीं हैं। यह केवल एक छोटी-सी तस्वीर है यह दिखलाने के लिए कि यदि सरकार बेरोज़गारी समाप्त करने के लिए ज़रा भी गम्भीर होती तो कम-से-कम सबसे पहले इन रिक्तियों को ही भर देती।

### आख़िर क्यों है बेरोज़गारी?

आज दुनिया के सभी देशों में बेरोज़गारी है। कहीं कम है तो कहीं ज़्यादा है। जहाँ सबसे कम है, वे ऐसे साम्राज्यवादी देश हैं जो बाक़ी दुनिया में अपनी लूट के बूते अपने देश में व्यापक कल्याणकारी योजनाएँ लागू करते हैं, जिसके कारण वहाँ बेरोज़गारी कम है। लेकिन वहाँ बेरोज़गारी इसीलिए कम है क्योंकि उन देशों में भारी बेरोज़गारी है, जिनकी जनता को ये देश लूटते हैं। लेकिन अमेरिका, जापान और स्वीडन जैसे उन्नत पूँजीवादी देशों में भी बेरोज़गारी की समस्या मौजूद है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार दुनिया में बेरोज़गारों की तादाद पिछले चार वर्षों में ही 20 करोड़ से बढ़कर 22 करोड़ के क़रीब पहुँच रही है। आख़िर इसका कारण क्या है?

इसका ढाँचागत कारण है आज दुनिया के सभी देशों में क़ायम मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था। जिस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र में समाज के लोगों की ज़रूरतों को पूरा करना नहीं होता, बल्कि मुट्ठीभर मालिकों और पूँजीपतियों के मुनाफ़े को सुनिश्चित करना होता है, उस व्यवस्था में बेकारी होना लाज़िमी है। क्योंकि ऐसी हर व्यवस्था प्रतिस्पर्द्धा पर टिकी होती है। तमाम कम्पनियाँ, पूँजीपति घराने और मालिकान बाज़ार में अपने उत्पाद को कम से कम क़ीमत पर बेचने की होड़ में लगे होते हैं। उत्पादों की क़ीमत कम से कम कैसे की जा सकती है? प्रति-इकाई लागत कम करके। प्रति-इकाई लागत कम से कम कैसे की जा सकती है? मज़दूरों की उत्पादकता बढ़ाकर और मज़दूरी को घटाकर। उत्पादकता को कैसे बढ़ाया जा सकता है? नयी तकनोलॉजी और मशीनें लाकर जिससे कम मज़दूरों से पहले से ज़्यादा उत्पादन करवाया जा सकता है। ऐसे में, अपवादस्वरूप आर्थिक तेज़ी और विस्तार के दौरों को छोड़ दिया जाये, तो काम में लगे मज़दूरों की संख्या में गिरावट आती है। विस्तार के दौरों में भी प्रति मशीन श्रमिक की दर गिरती ही रहती है। नतीजा होता है समाज में बेरोज़गार कामगारों की संख्या में बढ़ोत्तरी, चाहे वे शारीरिक श्रम करते हों या बौद्धिक श्रम। जब समाज में बेरोज़गारों की संख्या बढ़ती है, तो मालिक वर्ग मज़दूरों से कम-से-कम मज़दूरी पर काम लेने का प्रयास करता है, क्योंकि सड़कों पर बेरोज़गारों की संख्या बढ़ने के साथ नौकरीशुदा कामगारों की स्थिति भी ख़राब होती जाती है। सिर पर लटकती बेरोज़गारी की तलवार के कारण उनके मोलभाव की क्षमता घट जाती है। यानी मुनाफ़ाकेन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था एक ऐसी अराजकतापूर्ण व्यवस्था है जो कि स्वाभाविक रूप से बेरोज़गारी और बेकारी को पैदा करती है। किन्हीं पूँजीपतियों, राजनीतिज्ञों या नौकरशाहों की सदिच्छा से यह स्थिति नहीं बदल सकती है। जब तक कि पूँजीवादी व्यवस्था है, तब तक किसी भी प्रकार का कल्याणकारी राज्य या नीतियाँ बेरोज़गारी को पूरी तरह समाप्त नहीं कर सकतीं। क्योंकि सभी चुनावबाज़ पार्टियाँ, जिनमें तथाकथित वामपन्थी दल भी शामिल हैं, बड़े, मँझोले या छोटे पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करती हैं, उन्हीं के चन्दों के बूते चुनाव लड़ती हैं और उन्हीं के हितों के अनुसार नीतियाँ बनाती हैं या उनका समर्थन करती हैं। यदि कोई भी कल्याणकारी नीति बेरोज़गारी को समाप्त या कम करने का प्रयास करती है, तो पूँजीपति वर्ग उसका विरोध करता है। क्योंकि इससे औसत मज़दूरी बढ़ाने के लिए दबाव बनता है। औसत मज़दूरी बढ़ने का अर्थ है कि पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की औसत दर में गिरावट आ सकती है। यही कारण है कि पूँजीपति वर्ग बेरोज़गारी से सामाजिक सुरक्षा देने वाली किसी भी नीति का विरोध करता है और उसे सरकारी फ़िज़ूलख़र्ची क़रार देता है, हालाँकि जनता के ही धन से ख़ुद पूँजीपतियों को जब सस्ते क़र्ज़, क़र्ज़-माफ़ी, कर छूट आदि के रूप में खरबों की सौगात मिलती है तो उसे कोई तकलीफ़ नहीं होती! मिसाल के तौर पर, इस बात के आँकड़े मौजूद हैं कि 2006 से 2010 तक मनरेगा के कारण (जो कि स्वयं एक बेहद कमज़ोर क़ानून है) ग्रामीण औसत मज़दूरी में बढ़ोत्तरी हुई। न सिर्फ़ ग्रामीण धनी किसानों, फ़ार्मरों व एग्रो-बिज़नेस वालों ने इसका विरोध किया, बल्कि गाँव से शहर की ओर प्रवास की दर में भी मामूली गिरावट आयी जिसके कारण उद्योगपति वर्ग के लिए बेरोज़गारों की रिज़र्व आर्मी में कमी आयी और उसने भी इस योजना का विरोध किया। यही कारण है कि स्वयं यूपीए की सरकार ने ही 2011 से मनरेगा

(पेज 9 पर जारी)

# बेरोज़गारी की विकराल स्थिति और सरकारी जुमलेबाज़ियाँ व झूठ

(पेज 8 से आगे)

को अधिक से अधिक निष्प्रभावी बनाने के लिए हर सम्भव प्रयास किये। सभी चुनावबाज़ पार्टियाँ चूँकि बड़े पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करती हैं, इसलिए वे सरकार में रहने पर ऐसी नीतियाँ बनाने से बचती हैं, जो किसी भी रूप में पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की औसत दर पर कोई नकारात्मक प्रभाव डाले।

### बेरोज़गारी की समस्या का स्थायी समाधान क्या है?

बेरोज़गारी की समस्या का स्थायी समाधान है मुनाफ़ा-केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था की जगह समाज-केन्द्रित समाजवादी व्यवस्था। ऐसी व्यवस्था मेहनतकश जनसमुदायों की जन पहलक़दमी और जनान्दोलनों के रास्ते से आगे बढ़ते हुए समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन के ज़रिये ही सम्भव है। मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था में बेरोज़गारी की समस्या का कोई स्थायी समाधान सम्भव नहीं है, उल्टे यह समस्या बढ़ती ही जायेगी।

नयी समाजवादी व्यवस्था में राज्यसत्ता पर देश के मेहनतकश वर्गों का क़ब्ज़ा होगा, जो स्वयं अपनी क्रान्तिकारी पंचायतों/कमेटियों/कम्यूनों में संगठित होगा। इन संस्थाओं का एक पिरामिडीय ढाँचा होगा जो कि नीचे से लेकर राष्ट्रीय पंचायत तक जायेगा। किसी भी चुने गये प्रतिनिधि को कभी भी वापस बुलाने का हक़ जनता को होगा। चूँकि निर्वाचन मण्डल बेहद छोटे और आसानी से सँभालने योग्य होंगे, इसलिए सच्चे मायने में "वापस बुलाने के अधिकार" को लागू किया जा सकेगा। तब सही मायने में राज्यसत्ता पर मेहनतकश जनता का क़ब्ज़ा होगा। हर व्यक्ति के लिए काम करना अनिवार्य होगा और बिना काम किये किसी को भी रोटी खाने का हक़ नहीं होगा। एक ऐसी व्यवस्था में ही बेरोज़गारी दूर हो सकती है, क्योंकि सभी बैंकों, उद्योगों, खानों-खदानों का राष्ट्रीकरण कर दिया जायेगा, सभी बड़े फ़ार्मों को राजकीय फ़ार्मों में तब्दील कर दिया जायेगा, सभी खेतों को सहकारी या सामूहिक फ़ार्मों में तब्दील कर दिया जायेगा। समूचे उत्पादन का राष्ट्रीय योजना के तहत संचालन होगा, जिसका मक़सद होगा समाज की सभी आवश्यकताओं का सही आकलन करके उसके अनुसार समूचे राष्ट्रीय उत्पादन को संगठित करना। केवल एक ऐसी व्यवस्था में सभी लोगों को रोज़गार मुहैया कराया जा सकता है। चूँकि निजी मुनाफ़ा मक़सद नहीं होगा, इसलिए उन्नत से उन्नत तकनोलॉजी लोगों के काम के घण्टों को कम करेगी और उनके काम को आसान बनायेगी, न कि उन्हें सड़कों पर खदेड़कर बेकार करेगी। तब मनुष्य तकनोलॉजी को नियन्त्रित करेगा, न कि मुनाफ़े की अन्धी हवस के कारण तकनोलॉजी से नियन्त्रित होगा। समाज की बढ़ती उत्पादकता के साथ काम के घण्टे कम होते जाने चाहिए। लेकिन आज उन्नत तकनोलॉजी आने के साथ काम के घण्टे बढ़ते जा रहे हैं और काम अधिक से अधिक भारी और उबाऊ होता जा रहा है। एक ओर करोड़ों मज़दूर 12-14 घण्टे खटते रहते हैं, दूसरी ओर करोड़ों लोग काम की तलाश में भटकते रहते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि उत्पादन का मक़सद समाज की ज़रूरतों को पूरा करना नहीं बल्कि सबसे अमीर 5-6 प्रतिशत लोगों का निजी मुनाफ़ा सुरक्षित करना है।

निश्चित तौर पर, ऐसी नयी व्यवस्था निर्मित करना कोई आसान काम नहीं होगा। सामाजिक समस्याओं के स्थायी समाधान के रास्ते शायद ही कभी आसान होते हैं। लेकिन बेरोज़गारी की समस्या के स्थायी ठोस समाधान का यही रास्ता है। निश्चित तौर पर यह एक लम्बी लड़ाई है जिसके लिए देश में मेहनतकश वर्गों (यानी अपनी श्रमशक्ति बेचकर रोटी खाने वाला हर मनुष्य है, चाहे वह शारीरिक श्रम करता हो या मानसिक श्रम) की नयी क्रान्तिकारी पार्टी खड़ा करना, क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करना और व्यवस्था के क्रान्तिकारी परिवर्तन तक जाना होगा। यह दो-चार वर्षों का काम नहीं है, बल्कि लम्बी लड़ाई है।

### बेरोज़गारी की समस्या के विरुद्ध तात्कालिक संघर्ष का रास्ता क्या है?

बेरोज़गारी को जड़ से ख़त्म करने के दूरगामी लक्ष्य के इन्तज़ार में अगर हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे, तो व्यवस्था–परिवर्तन का क्रान्तिकारी संघर्ष खड़ा ही नहीं किया जा सकेगा। यह दूरगामी संघर्ष भी कई तात्कालिक संघर्षों की सीढ़ियों से चढ़कर ही आगे बढ़ सकता है। ये तात्कालिक संघर्ष किन मुद्दों पर होंगे? सभी को समान एवं नि:शुल्क शिक्षा के अधिकार के सवाल पर, आवास के अधिकार के सवाल पर, सार्वभौमिक स्वास्थ्य सुविधाओं के अधिकार के सवाल पर, श्रम क़ानूनों को मज़दूरों के हक़ में बेहतर बनाने और उनके सही अमल के सवाल पर, और ऐसे अनेक सवालों पर। लेकिन इनमें से भी सम्भवत: सबसे महत्वपूर्ण है 'काम के अधिकार' का सवाल यानी रोज़गार गारण्टी का सवाल। पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर रोज़गार की क़ानूनी गारण्टी का हक़ माँगना रोज़गार के अधिकार की लड़ाई का सबसे अहम हिस्सा है।

मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ही बेरोज़गारी से निपटने के लिए तमाम क़दम उठाये जा सकते हैं, जिससे बेरोज़गारी समाप्त तो नहीं हो जायेगी, लेकिन उसमें निश्चित तौर पर कमी आयेगी। ज़ाहिरा तौर पर, ऐसे क़दम कोई पूँजीवादी सरकार अपने आप नहीं उठायेगी, उस पर जनता का दबाव बनाना होगा।

पहला नीतिगत क़दम है सामाजिक सुरक्षा और जनकल्याण की व्यापक योजनाओं को अमल में लाना। मिसाल के तौर पर सभी नागरिकों को मौजूदा स्तर पर स्कूली शिक्षा मुहैया कराने के लिए कम से कम 10 लाख नये शिक्षकों की आवश्यकता है। यदि शिक्षा के स्तर को और ऊँचा किया जाये तो यह संख्या और भी ज़्यादा होगी। यदि सार्वभौमिक स्वास्थ्य देखरेख की व्यवस्था को लागू किया जाये, तो न सिर्फ़ क़रीब 2.5 लाख बेरोज़गार डॉक्टरों, 2 लाख नर्सों व मिडवाइफ़ों, और लाखों अन्य स्वास्थ्यकर्मियों को नौकरियाँ मिल सकती हैं, बल्कि लाखों अन्य डॉक्टरों, नर्सों, स्वास्थ्यकर्मियों की आवश्यकता पैदा होगी। यदि उच्चतर शिक्षा की बात करें तो केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में शिक्षकों के 40 प्रतिशत पद ख़ाली हैं। वह भी तब जबकि भारत में 12वीं पास बच्चों का केवल 7 प्रतिशत ही उच्चतर शिक्षा तक पहुँच पाता है। इसमें भी यदि हम कुछ कुलीन विश्वविद्यालयों व कॉलेजों को छोड़ दें तो किसी भी मानक से अधिकांश संस्थानों को विश्वविद्यालय या कॉलेज कहा ही नहीं जा सकता है। यदि हम भारत में सभी बारहवीं पास बच्चों को किसी न किसी विषय या कुशलता में स्तरीय उच्चतर शिक्षा का हक़ मुहैया करायें, तो सोचें कि कितने रोज़गार पैदा होंगे। यदि सरकार सभी कामगारों को राजकीय आवास का अधिकार मुहैया कराये, तो इतने आवासों के निर्माण की आवश्यकता पड़ेगी, कि लाखों लोगों को रोज़गार मिलेगा। अगर अमीरों की फ़र्राटेदार गाड़ियों और पूँजीपतियों के ट्रकों के दौड़ने के लिए चन्द एक्सप्रेसवे बनाने के बजाय पूरे देश के गाँव-गाँव तक सड़कों का जाल बिछाया जाये, पुल बनाये जायें, स्कूल और अस्पताल बनाये जायें, अनाज के सुरक्षित भण्डारण की व्यवस्था की जाये, बच्चों, बुज़ुर्गों, अशक्त लोगों की उचित देखभाल के सारे इन्तज़ाम किये जायें तो लाखों नये रोज़गार पैदा होंगे। इतना करने के लिए तो समाजवाद की आवश्यकता नहीं है।

हालाँकि मीडिया से लेकर मध्यवर्ग तक निजीकरण का शोर मचाते रहते हैं, लेकिन हक़ीक़त यह है कि हमारे देश में प्रति 100 व्यक्ति सरकारी रोज़गार में लगे लोगों की संख्या औसतन 2 से भी कम है। अमेरिका में यह 5 है, यूरोप में औसतन 6 और स्कैण्डिनेवियन देशों (नार्वे, स्वीडन, फ़िनलैण्ड, डेनमार्क) में 10 से 13 तक है। मन्दी के दौर में इन देशों में भी सरकारें इन नीतियों को समाप्त कर रही हैं, जिनका जनता पुरज़ोर विरोध भी कर रही है, मगर फिर भी वहाँ हमारे देश से कहीं बेहतर स्थिति है।

इन सभी सामाजिक सुरक्षा नीतियों में से सबसे अहम है सार्वभौमिक रोज़गार गारण्टी योजना। ऐसी योजना के लिए विशिष्ट क़ानून बनाया जाना चाहिए, जिसके अनुसार, यदि सरकार किसी काम करने योग्य और काम करने को इच्छुक समर्थ शरीर व मस्तिष्क के व्यक्ति को रोज़गार मुहैया नहीं करा सकती, तो उसे जीवनयापन योग्य बेरोज़गारी भत्ता देना होगा। यदि सरकार ग्रामीण बेरोज़गारों के लिए मनरेगा के तहत स्वीकार कर सकती है कि कम-से-कम 100 दिनों का रोज़गार देना उसकी ज़िम्मेदारी है, तो समूचे भारत के सभी नागरिकों के लिए वह साल भर के पक्के रोज़गार की ज़िम्मेदारी स्वीकार क्यों नहीं कर सकती है? 100 दिन का रोज़गार कोई रोज़गार नहीं है; यह एक क़िस्म की अनियमित बेगारी है क्योंकि इसके लिए सरकार अलग-अलग राज्यों में 165 से लेकर 203 रुपये दिहाड़ी दे रही है, जो कि स्वयं सरकार द्वारा तय राष्ट्रीय फ़्लोर लेवल न्यूनतम मज़दूरी से भी कम है। दूसरी बात, यदि शहरों में बेरोज़गारी की दर गाँवों से ज़्यादा है, तो सरकार को पूरे देश के लिए सार्वभौमिक रोज़गार गारण्टी क़ानून बनाना चाहिए जो कि सभी को साल भर के रोज़गार, आठ घण्टे के कार्यदिवस, न्यूनतम मज़दूरी की गारण्टी देता हो और ऐसा न करने की सूरत में गुज़ारे-लायक़ बेरोज़गारी भत्ता देता हो।

निश्चित तौर पर, ऐसा क़ानून बन जाने के बाद भी लड़ाई समाप्त नहीं होगी। हम अपने देश की राज्यसत्ता, उसकी सरकारों और नौकरशाही को तो जानते ही हैं। तमाम क़ानून मोटे-मोटे पोथों में पड़े सड़ते रहते हैं और उन्हें लागू करना तो दूर उनका कोई नामलेवा भी नहीं होता। श्रम क़ानून इसका सबसे बड़ा उदाहरण हैं। फिर भी रोज़गार गारण्टी क़ानून के लिए लड़ना अत्यावश्यक है, वैसे ही, जैसे जब श्रम क़ानून नहीं थे तो श्रम क़ानूनों के लिए लड़ना भी मज़दूर वर्ग के लिए आवश्यक था। इन क़ानूनों के बाद इनके कार्यान्वयन के लिए भी मज़दूर वर्ग को लड़ना पड़ा और आज भी लड़ना पड़ रहा है। साथ ही, पुराने पड़ चुके क़ानूनों को मज़दूर वर्ग के पक्ष में बदलवाने के लिए भी मज़दूर वर्ग को लड़ना पड़ता है। लेकिन इसके बावजूद इन क़ानूनों का बनना मज़दूर वर्ग के लिए एक आगे बढ़ा हुआ क़दम है। यह मज़दूर वर्ग को लड़ने के लिए सुपरिभाषित मध्यवर्ती माँगों का एक एजेण्डा और चार्टर देता है, जिस पर कि व्यापक मज़दूर वर्ग को गोलबन्द और संगठित किया जा सकता है। जो मध्यवर्ती माँगों को ठोस रूप नहीं देते, राज्यसत्ता से उन माँगों के लिए संघर्ष नहीं करते और किसी अन्तिम निर्णायक संघर्ष के इन्तज़ार में बैठे रहते हैं, वे न तो फ़ौरी संघर्ष की महत्ता को समझते हैं और न ही दूरगामी संघर्ष के साथ इसके रिश्ते को। रोज़गार के मसले पर भी 'काम के हक़' के क़ानून की माँग सबसे महत्वपूर्ण है, जैसी कि 1848 में पेरिस के मज़दूरों और आम मेहनतकशों ने की थी और उसके बाद दुनिया में मेहनतकश वर्गों और छात्रों-युवाओं ने अपने सभी आन्दोलनों में की है। निश्चित तौर पर, ऐसे क़ानून का बनना संघर्ष का मात्र एक चरण होगा, न कि रोज़गार के हक़ की लड़ाई का अन्त। यह नये स्तर के नये संघर्षों की ज़मीन तैयार करने के लिए अनिवार्य है।

### क्या रोज़गार गारण्टी क़ानून लागू करने के लिए सरकार के पास धन की कमी है?

कुछ लोग कह सकते हैं कि सरकार इतना कैसे करेगी, उसके पास तो पैसा ही नहीं है। आइए इस तर्क पर भी आँकड़ों की रोशनी में बात कर लेते हैं, क्यों कांग्रेस की सरकार हो या भाजपा की या किसी तीसरे मोर्चे की, सभी सरकारें जनता के पक्ष में किसी भी क़ानून या योजना के प्रस्ताव पर ही अपनी फटी जेबें दिखाने का नाटक शुरू कर देती हैं। असलियत क्या है?

देश में पूँजीपतियों को कर छूट, सस्ती बिजली, ज़मीन, पानी, कच्चे माल और क़र्ज़ माफ़ी के कारण सरकार को हर वर्ष 70 हज़ार करोड़ रुपये का घाटा होता है। अभी इसमें हम टैक्स चोरी को जोड़ भी नहीं रहे हैं। कारपोरेट टैक्स 30 प्रतिशत है। लेकिन कोई भी कारपोरेट घराना इस दर से टैक्स नहीं देता है। मिसाल के तौर पर, अम्बानी की रिलायंस इण्डस्ट्रीज़ 10 प्रतिशत से भी कम दर पर टैक्स देती है। टैक्स चोरी की रक़म भी लाखों करोड़ रुपये में बैठती है। कारपोरेट घरानों पर बैंकों का क़र्ज़ जिसे मोदी सरकार ने एक प्रकार से माफ़ ही कर दिया है, वह क़रीब 10 लाख करोड़ के है। हर वर्ष सकल घरेलू उत्पाद का क़रीब 7 प्रतिशत कारपोरेट घरानों को करों और तमाम शुल्कों से छूट और रियायत में चला जाता है। अगर केवल इतना कर दिया जाये कि इन सबकी वसूली की जाये, सभी टैक्स दरों को पूर्ण रूप से लागू किया जाये, पूँजीपतियों को हर प्रकार की छूट बन्द की जाये तो भी ये सामाजिक सुरक्षा नीतियाँ और रोज़गार गारण्टी क़ानून लागू किया जा सकता है। स्वयं सरकार की बनायी विजय केलकर समिति ने अपनी रपट में सुझाव दिया था कि सरकार कारपोरेट टैक्स कम करे लेकिन बड़े पूँजीपतियों को हर प्रकार की छूट, रियायत या राहत देना बन्द कर दे, तो भी सरकारी घाटा समाप्त हो जायेगा और तमाम सामाजिक सुरक्षा योजनाओं को लागू किया जा सकेगा।

### क्या किसी भी चुनावबाज़ पार्टी की सरकार ऐसा करेगी?

चाहे कांग्रेस-नीत गठबन्धन की सरकार हो, भाजपा-नीत गठबन्धन की सरकार हो या किसी तीसरे महागठबन्धन की सरकार हो, कोई भी अपने आप ऐसा कोई रोज़गार गारण्टी क़ानून या सामाजिक सुरक्षा कवर की नीति नहीं बनायेगी। क्योंकि ऐसे क़ानून और नीति बनने और उसके आंशिक तौर पर भी लागू होने पर देश में औसत मज़दूरी में वृद्धि होती है, जैसा कि मनरेगा का 2010 तक का अनुभव बताता है। इससे कारपोरेट घरानों और पूँजीपतियों की मोलभाव की क्षमता कम होगी और कामगारों और मज़दूरों की मोलभाव की क्षमता बढ़ेगी। इसके कारण, पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की औसत दर में कमी आयेगी और पूँजीपति वर्ग वैश्विक

(पेज 11 पर जारी)

# बाल कुपोषण के भयावह आँकड़े व सरकारों की अपराधी उदासीनता

## आने वाली एक पूरी पीढ़ी को अपंग व बीमार बनाती व्यवस्था

**डॉ. पावेल पराशर**

बीती 13 जनवरी को झारखण्ड की रघुबर सरकार ने मिड डे मील के तहत बच्चों को मिलने वाले अण्डों में कटौती की घोषणा करते हुए इसे हफ़्ते में तीन से दो करने का फ़ैसला ले लिया। सरकार ने इसका कारण बताया है कि हर दिन बच्चों को अण्डा खिलाना सरकार के लिए "महँगा" सौदा पड़ रहा है। ताज्जुब की बात है कि राज्य की खनिज सम्पदाओं, जंगलों, पहाड़ों को अपने कॉर्पोरेट मित्रों के हाथों औने-पौने दाम पर बेचना सरकार को कभी "महँगा" नहीं पड़ा। ग़ौरतलब है कि झारखण्ड देश के सबसे कुपोषित राज्यों में से एक है और खनिज व प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर इस राज्य के 62% बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। राज्य के कुल कुपोषित बच्चों में से 47% बच्चों में 'स्टण्टिंग' यानी उम्र के अनुपात में औसत से कम लम्बाई पायी गयी है जो कि कुपोषण की वजह से शरीर पर पड़ने वाले अपरिवर्तनीय प्रभावों में से एक है। पूरे देश के कुपोषण के आँकड़ों पर नज़र डालें तो UNICEF के अनुसार भारत में 5 वर्ष से कम उम्र के 39% बच्चे स्टण्टिंग के शिकार हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आने वाली एक पूरी पीढ़ी, कुपोषण के दुष्प्रभावों की वजह से ठिगनी रह जाने को अभिशप्त है। ग्लोबल न्यूट्रिशन रिपोर्ट, 2018 (जीएनआर) के अनुसार विश्व में कुपोषण की वजह से ठिगने रह जाने वाले बच्चों में से 47% सिर्फ़ तीन देशों में हैं, भारत, पाकिस्तान व नाइजीरिया। विश्व भूख सूचकांक 2018 के अनुसार विश्व के 119 अविकसित व विकासशील देशों की सूची में भारत 103वें स्थान पर विराजमान है। हमारे देश में पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की होने वाली अकाल मृत्यु के 50% मामलों के लिए कुपोषण ज़िम्मेदार है। भारत में हर दिन 3000 बच्चे कुपोषण के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कारणों की वजह से दम तोड़ देते हैं।

### बाल कुपोषण के कारण, लक्षण व दुष्परिणाम :

बाल कुपोषण तब होता है जब बच्चे के शरीर में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन व खनिजों सहित पर्याप्त पोषक तत्व नहीं मिलते। इसके कारणों में मुख्यतः प्रोटीन व कैलोरी की कमी सबसे बड़ी व दीर्घकालिक भूमिका

निभाती है। प्रोटीन व कैलोरी की कमी की वजह से होने वाला कुपोषण, "प्रोटीन ऊर्जा कुपोषण" कहलाता है। कैलोरी व प्रोटीन की कमी का सम्बन्ध भोजन की मात्रा और गुणवत्ता से तो है ही, साथ ही साफ़-सफ़ाई व बच्चे के पालन-पोषण के वातावरण से भी है। इसके अलावा बच्चे की माँ के शरीर में गर्भावस्था के दौरान मौजूद ख़ून की कमी और कुपोषण का इतिहास, भविष्य में बच्चे में कुपोषण की सम्भावना को कई गुणा बढ़ा देता है। जन्म के बाद के छह महीने तक अनन्य स्तनपान न मिलना भी बाल कुपोषण का एक महत्वपूर्ण कारण है। कुपोषण के कुछ आम लक्षणों में शामिल हैं, वसा की कमी, दम फूलना, अवसाद, सर्जरी के बाद जटिलताओं का ख़तरा, घाव देर से भरना, 'हाइपोथर्मिया' यानी असामान्य रूप से शरीर का निम्न तापमान, बीमारी ठीक होने में लम्बा वक़्त लगना, थकान, उदासीनता व इसके अलावा कुपोषण के अधिक गम्भीर मामलों में पतली, सूखी, पीली त्वचा, चेहरे से वसा खोने की वजह से गालों का खोखला हो जाना, आँखों का धँस जाना आदि। लम्बे समय तक कैलोरी की कमी की वजह से दिल, जिगर व श्वास की विफलता जैसे गम्भीर परिणाम भी हो सकते हैं। गम्भीर रूप से कुपोषित बच्चों का शारीरिक विकास आम बच्चों की तुलना में धीमा व अपूर्ण होता है। उनमें शारीरिक व मानसिक विकलांगताओं का भी ख़तरा रहता है। हालाँकि जो बच्चे ठीक हो जाते हैं, उनमें भी लम्बे समय तक कुपोषण के प्रभाव दिखते हैं जैसे कि पाचन तन्त्र और मानसिक कार्यों में दिक़्क़त। बच्चों में जन्म से लेकर दो वर्ष की आयु तक उनके कुपोषण से ग्रस्त होने व उस कुपोषण के दीर्घकालिक होने की सम्भावना अधिक रहती है।

### सरकारी कुप्रबन्धन, भ्रष्टाचार व बजट-कटौती का शिकार होती योजनाएँ:

भारत सरकार ने 1995 में बच्चों की प्रोटीन व कैलोरी की ज़रूरतों की आंशिक आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए "मिड डे मील" योजना की शुरुआत की थी। मिड डे मील योजना का लक्ष्य बच्चों के लिए ज़रूरी कैलोरी के एक तिहाई हिस्से व ज़रूरी प्रोटीन के 50% हिस्से की आपूर्ति सुनिश्चित करना था। हालाँकि यह योजना अपने जन्म के समय से ही कुप्रबन्धन, भ्रष्टाचार व लगातार होती फ़ण्ड व बजट कटौती की वजह से अधिकतर राज्यों में अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में असफल रही, पर फिर भी इस योजना की शुरुआत के बाद कई क्षेत्रों में बाल कुपोषण के आँकड़ों में प्रत्यक्ष सुधार देखे गये। झारखण्ड सहित कुछ राज्यों में प्रोटीन की आपूर्ति के लिए चावल, दलहन के साथ अण्डे को सम्मिलित किया गया। अण्डे में मौजूद एल्ब्यूमिन प्रोटीन, "प्रोटीन ऊर्जा कुपोषण" से पीड़ित बच्चों के लिए गुणात्मक रूप से प्रोटीन का सर्वोत्तम स्रोत है और मिड डे मील में यदि ईमानदारी से हर बच्चे को रोज़ाना एक अण्डा सुनिश्चित किया जाये तो कुपोषण के इन भयानक आँकड़ों में कई गुना तक सुधार लाया जा सकता है। लेकिन खनिज व प्राकृतिक सम्पदाओं से भरपूर झारखण्ड राज्य की सरकार के लिए राज्य की सम्पदाओं को चवन्नी के भाव कॉर्पोरेट घरानों को बेचना कभी भी "महँगा" सौदा महसूस नहीं हुआ, पर कुपोषित बच्चों को अण्डों से मिलने वाला पोषण उसे महँगा सौदा लगने लगा। 7% की दर से "विकास" का दावा ठोंकती रघुबर सरकार के पास अपने इस "विकास" का एक छोटा सा हिस्सा इस राज्य में विकराल मुँहबाए खड़े कुपोषण रूपी राक्षस से लड़ाई हेतु भी ख़र्चने को नहीं है। ग़ौरतलब है कि संस्कृति व धर्म पर ठेकेदारी का दावा ठोंकने वाली भारतीय जनता पार्टी ने जिन-जिन प्रदेशों में अपनी सरकार बनायी, वहाँ-वहाँ उसने "धार्मिक भावनाओं" हवाला देते हुए अण्डे को बच्चों की थाली से छीन लिया, चाहे वह हिमाचल हो या महाराष्ट्र, हरियाणा, उत्तराखण्ड, यूपी या मणिपुर।

जहाँ एक तरफ़ कुपोषण के भयानक आँकड़े भारत को दुनिया के सबसे पिछड़े व कुपोषित देशों की क़तार में खड़ा करते हैं, वहीं मिड डे मील, आईसीडीएस, आँगनवाड़ी जैसी योजनाओं से आर्थिक सहायता खींचकर इन्हें भी ख़त्म करने की साज़िशें ज़ोर पर हैं। दूसरी तरफ़ पूँजीपतियों के हज़ारों करोड़ के क़र्ज़े माफ़ करते हुए उसकी भरपाई मेहनतकश जनता के हिस्से के कल्याणकारी कार्यक्रमों में कटौती के द्वारा की जा रही है। "भात भात" कहते हुए मर गयी बालिका सन्तोषी को सख़्त हिदायत है कि जितना मिल रहा है, उतने में ही "सन्तोष" करो और अपनी हड्डियों का पाउडर बनाकर इस पूँजीवादी व्यवस्था के मुनाफ़े के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी पिसते रहो।

# चित्रकूट पहाड़ियों की खदानें बन रही हैं मज़दूरों की क़ब्रगाह

चित्रकूट की पहाड़ियों में स्थित पत्थर खदानें मज़दूरों की क़ब्रगाह बनती जा रही हैं। अभी हाल ही में चित्रकूट के भरतकूप में ग्वाँणा ग्राम से लगी पहाड़ी की खदान में राम औतार नाम के एक मज़दूर की मृत्यु हो गयी। राम औतार खदान की सफ़ाई का काम कर रहा था जिसमें कि मज़दूरों को मिट्टी को हटाकर पत्थर चट्टान निकालनी होती है और इसके बाद उस पत्थर की चट्टान में कम्प्रेसर से होल करके चट्टान को डायनामाइट से उड़ा दिया जाता है।

जिस खदान में राम औतार काम कर रहा था उस पत्थर खदान की गहराई लगभग 100 मीटर थी। राम अवतार उस पत्थर खदान में कमर में रस्सी बाँधकर खदान के बीच में काम कर रहे थे। इसी बीच खदान में अचानक मिट्टी व पत्थर से बनी एक चट्टान के खिसक जाने से उसके आगे से मिट्टी धँस गयी जिसके नीचे दबकर राम औतार की दर्दनाक मौत हो गयी। इस तरह की दुर्घटनाओं में पिछले एक महीने में ही पाँच मज़दूरों की मौत हो चुकी है। अधिकतर मामलों में मरने वाले के परिवार को कोई मुआवज़ा तक नहीं मिलता क्योंकि कई बार दुर्घटना की किसी भी व्यक्ति को जानकारी ही नहीं हो पाती है। ठेकेदार उन मज़दूरों को जेसीबी के द्वारा खोदकर उसी खदान में दफ़ना देता है। राम औतार के पत्थर खदान में काम कराने वाले ठेकेदार पैसे के दम पर मीडिया, खनिज विभाग, शासन, प्रशासन व पुलिस को मैनेज करके पत्थर खदान में हुई दुर्घटना को रोड एक्सीडेण्ट की घटना बनाकर केस रफ़ा-दफ़ा करा लिया। साथ ही अपने मुंशी व आदमियों को पीड़ित परिवार के पास भेजकर सहानुभूति व सामाजिक दबाव के ज़रिये सुलह-समझौता करा लिया। राम औतार के परिवार पर दबाव बनाया गया कि यदि आप सुलह-समझौता नहीं करते हैं तो आपको कुछ भी आर्थिक मदद नहीं मिलने वाली है। ठेकेदार के मुंशी व आदमियों के द्वारा यह कहा गया कि बड़ा आदमी है, यानी पैसा वाला आदमी है। यदि कुछ कार्यवाही करोगे तो जो पैसा आपको देना है वह शासन-प्रशासन को देकर मुक़दमा लड़ लेगा और आप ना तो मुक़दमा लड़ पायेंगे और ना कुछ पायेंगे। इससे अच्छा यही है कि आप जो ठेकेदार दे रहा है उसको ले लीजिए। हम सब लोगों की मान-मर्यादा बनी रहेगी। इसके अलावा अन्य लोगों के बारे में भी तो सोचो, सभी लोगों का रोज़गार छिन जायेगा। और कल को ठेकेदार से दुश्मनी ऊपर से हो जायेगी। आपकी कड़ी मेहनत के बाद कोई क़ानूनी कार्यवाही हो भी गयी तो हम उसके ख़िलाफ़ हाई कोर्ट से स्टे लेंगे। या जो भी होगा। इसलिए आप लोग हम लोगों की बात मान जाओ। कल को आपके तीन लड़कियाँ हैं जिनकी शादी करनी होगी। उनकी शादी के लिए हम लोग एक-एक लाख दिला देंगे और क्रिया कर्म का 20 हज़ार और दिला देंगे। अन्ततः राम औतार की पत्नी शकुन्तला को और उसके परिवार ने अन्य कोई उपाय न देखकर उनकी बात मान भी ली।

ऐसी घटनाएँ इस इलाक़े में कोई नयी बात नहीं है। मज़दूरों के पास ऐसी कोई यूनियन भी नहीं है जो कि उनकी मज़दूरी बढ़ाने, जीवन बचाव उपकरण, मेडिकल भत्ता व बच्चों को शिक्षा आदि हक़ और अधिकार के लिए लड़ाई लड़े और किसी भी पीड़ित मज़दूर व मज़दूर के परिवार को उचित मुआवज़ा दिलाने के लिए संघर्ष करने को तैयार रहे।

पिछले 35-40 वर्षों से लगातार बुन्देलखण्ड क्षेत्र में प्राकृतिक संसाधनों का बहुत ही भयानक व तीव्र गति से दोहन किया जा रहा है। जिसके परिणाम स्वरूप 200-300 मीटर ऊँची पहाड़ियों को कहीं-कहीं तो पूरी तरह से ख़त्म कर दिया गया है और कहीं-कहीं ख़त्म होने की क़गार पर हैं। दूसरी तरफ़ नदियों से मोरन, रेत व बालू आदि लगातार निकाला जा रहा है। यह प्राकृतिक तबाही व बर्बादी बाक़ायदा शासन व प्रशासन की मिलीभगत से क़ानूनी वैधता के साथ कुछ लोगों के द्वारा की जा रही है।

इन प्राकृतिक संसाधनों की लूट छिपाने के लिए शासन-प्रशासन बीच-बीच में सतत विकास व समावेशी विकास जैसे नारे लगा देता है। जिससे लोगों को लगे कि शासन-प्रशासन प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के लिए बहुत ही तत्पर है जबकि शासन-प्रशासन की मिलीभगत के बग़ैर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन बड़े पैमाने पर किया ही नहीं जा सकता है। अगर इस लूट के ख़िलाफ़ लोगों को लामबन्द नहीं किया गया तो यह पूरे क्षेत्र के मानवीय जीवन के लिए संकट पैदा कर देगी।

**– महाप्रसाद**

# 13 पॉइण्ट रोस्टर सिस्टम और शिक्षा एवं रोज़गार के लिए संघर्ष की दिशा का सवाल

**– इन्द्रजीत**

इस समय देश के अलग-अलग हिस्सों में 13 पॉइण्ट विभागीय रोस्टर सिस्टम के ख़िलाफ़ आन्दोलन हो रहे हैं। ऐसे में इस मुद्दे के सभी पहलुओं को समझना बेहद ज़रूरी हो जाता है। आरक्षण के आधार पर नियुक्तियों में क्रम विभाजन रोस्टर कहलाता है। देश में फ़िलहाल अनुसूचित जाति को 15 प्रतिशत, अनुसूचित जनजाति को 7.5 प्रतिशत और अन्य पिछड़ी जातियों को 27 प्रतिशत आरक्षण मिला हुआ था। कुछ ही दिन पहले सामान्य वर्ग के आर्थिक रूप से कमज़ोर तबक़ों को भी 10 प्रतिशत आरक्षण दे दिया गया है। यह आरक्षण सरकारी नौकरियों में भी लागू है। वर्ष 2006 में 200 पॉइण्ट रोस्टर सिस्टम लागू किया गया था। इसका मतलब किसी भी शिक्षण संस्थान या विश्वविद्यालय को एक इकाई मानकर होने वाली भर्ती का क्रम निर्धारित करने से था। उदाहरण के लिए 200 पॉइण्ट रोस्टर के तहत पहले तीन पद अनारक्षित या सामान्य वर्ग के उम्मीदवार को, चौथा पद अन्य पिछड़ी जाति के उम्मीदवार को, पाँचवाँ और छठा पद फिर से सामान्य वर्ग के उम्मीदवार को, सातवाँ पद अनुसूचित जाति के उम्मीदवार को, आठवाँ पद अन्य पिछड़ी जाति के उम्मीदवार को, फिर 9वाँ, 10वाँ, 11वाँ पद सामान्य वर्ग के उम्मीदवार को, फिर 12वाँ पद अन्य पिछड़ी जाति के उम्मीदवार को, फिर 13वाँ पद सामान्य वर्ग के उम्मीदवार को और 14वाँ पद अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवार को मिलना तय था। यानी कि 200 की संख्या तक आते-आते संवैधानिक तौर पर मिले आरक्षण के अनुसार नियुक्तियों का प्रावधान था। यह 200 पॉइण्ट रोस्टर संस्था या विश्वविद्यालय को एक इकाई मानकर लागू किया जाता था और भर्तियाँ भी संस्था के तौर पर ही निकलती थी ताकि आरक्षण के अनुसार विभिन्न तबक़ों को प्रतिनिधित्व मिल सके।

इस 200 पॉइण्ट रोस्टर के विरोध में कुछ संगठन इलाहाबाद उच्च न्यायालय चले गये। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अप्रैल 2017 के अपने फ़ैसले में संस्था के आधार पर लागू इस 200 पॉइण्ट रोस्टर सिस्टम को ख़त्म करके विभाग के आधार पर लागू किये जाने वाले 13 पॉइण्ट रोस्टर सिस्टम को लागू करने का आदेश दे दिया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के इसी फ़ैसले को आधार बनाते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) ने 5 मार्च 2018 को तमाम विश्वविद्यालयों को एक पत्र भेजा जिसमें विभागवार 13 पॉइण्ट रोस्टर सिस्टम को लागू करने की बात कही गयी थी। इसके बाद हुई विभिन्न भर्तियों में आरक्षण का कुछ मतलब नहीं रह गया था। इसलिए तुरन्त ही विभिन्न संगठनों ने इस फ़ैसले का कड़ा विरोध किया। जब व्यापक विरोध होता दिखा तो सरकार ने इस फ़ैसले को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी। इस फ़ैसले के ख़िलाफ़ भारत सरकार ने मानव संसाधन मन्त्रालय (एमएचआरडी) और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के द्वारा दो स्पेशल लीव पिटीशन लगवायी गयी। 22 जनवरी 2019 को उच्चतम न्यायालय ने इलाहाबाद हाई कोर्ट के फ़ैसले को सुरक्षित रखते हुए सरकार की अर्जी को ख़ारिज कर दिया। भाजपा ने इस मामले में उच्चतम न्यायालय में ढंग से पक्ष नहीं रखा, परिणामस्वरूप आरक्षित वर्ग के शैक्षणिक पदों के आरक्षण पर तलवार लटक गयी क्योंकि इस 13 पॉइण्ट रोस्टर में नियुक्तियों का क्रम विभाजन पुराना ही रखा गया है, किन्तु अब भर्तियाँ शिक्षण संस्था की बजाय विभाग के अनुसार होंगी। इसका नतीजा यह होगा कि कम से कम चार पद होने पर ही अन्य पिछड़े वर्ग का उम्मीदवार, कम से कम 7 पद होने पर ही अनुसूचित जाति का उम्मीदवार और कम से कम 14 पद होने पर ही अनुसूचित जनजाति का उम्मीदवार आरक्षण का फ़ायदा ले सकेगा। वरना उन्हें सामान्य वर्ग में ही प्रतियोगिता करनी पड़ेगी। अब विभाग में इतनी भर्तियाँ निकलती ही नहीं कि सभी को प्रतिनिधित्व मिल सके! यानी कुल-मिलाकर आरक्षण का ख़ात्मा।

आरक्षित वर्ग की शिक्षा और नौकरियों में भागीदारी वैसे ही कम हो रही है, ऊपर से यदि 13 पॉइण्ट रोस्टर सिस्टम लागू होता है तो यह आरक्षित श्रेणियों के ऊपर होने वाला कुठाराघात साबित होगा। पहले ही अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ी जातियों से सम्बन्धित नौकरियों के बैकलॉग तक पारदर्शिता के साथ नहीं भरे जाते, ऊपर से अब 13 पॉइण्ट रोस्टर सिस्टम थोप दिया गया! इसकी वजह से नौकरियों में लागू किये गये आरक्षण या प्रतिनिधित्व की गारण्टी का अब कोई मतलब नहीं रह जायेगा। यही कारण है कि तमाम प्रगतिशील और दलित व पिछड़े संगठन 13 पॉइण्ट रोस्टर सिस्टम का विरोध कर रहे हैं। निश्चित तौर पर आरक्षण के प्रति शासक वर्ग की मंशा वह नहीं थी जिसे आमतौर पर प्रचारित किया जाता है। आरक्षण भले ही एक अल्पकालिक राहत के तौर पर था किन्तु यह अल्पकालिक राहत भी ढंग से कभी लागू नहीं हो पायी। इसी का परिणाम है कि आज तक भी दलित जातियों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया है। बेशक संवैधानिक और जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष के फ़लक पर आरक्षण को पारदर्शिता के साथ लागू करवाने का भी एक एजेण्डा बनता है। तमाम जनवादी ताक़तों को इसके लिए प्रयास भी करना चाहिए। किन्तु यह सोचना भी किसी मृग मरीचिका के पीछे भागने से कम नहीं है कि यदि आरक्षण पूरी तरह से लागू हो गया तो सभी को नौकरी मिल जायेगी। दलितों और तथाकथित पिछड़ों की हर मर्ज़ का इलाज आरक्षण को ही बताना और तमाम संघर्षों को आरक्षण तक ही सीमित रखना शासक वर्ग के झाँसे में आना ही है।

बेशक मनुवादी सवर्ण मानसिकता के आधार पर आरक्षण को देखने और इसकी व्याख्या करने को हम ग़लत मानते हैं, किन्तु क्या अपने संघर्षों को केवल आरक्षण हासिल करने और हासिल आरक्षण की हिफ़ाज़त करने तक ही सीमित रखना पर्याप्त होगा? इसी तर्क के आधार पर हम आज के समय आरक्षण को शासक वर्गों के हाथों में जनता को बाँटने का एक हथियार मानते हैं। बेशक अपने क़ानूनी और संवैधानिक अधिकार के तौर पर आरक्षण को ईमानदारी से लागू करवाने, कोटे के तहत ख़ाली पदों को भरने के लिए आन्दोलन खड़े किये जाने चाहिए, किन्तु आज सबके लिए सामान और निःशुल्क शिक्षा और हर काम करने योग्य नौजवान के लिए रोज़गार के समान अवसर का नारा ही सर्वोपरि तौर पर तमाम जातियों की मेहनतकश जनता का साझा नारा बन सकता है।

आजकल तमाम अस्मितावादी और पहचान की राजनीति करने वाले रंग-बिरंगे कूपमण्डूक बड़ी ही गर्मजोशी के साथ इस नारे को उठाते हैं कि जिसकी जितनी संख्या भारी उसकी उतनी भागीदारी! हमें यह बात समझनी होगी कि आबादी के अनुपात में आरक्षण के टुकड़े मिलने से भी कुछ नहीं होने वाला! नौकरियाँ लगातार घट रही हैं, बेरोज़गारी अपने चरम पर है! जनवरी 2019 के शुरू में आयी सीएमआईई की ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार साल 2017 में 1 करोड़ 10 लाख नौकरियाँ कम हुई हैं। वहीं हाल ही में आयी एनएसएसओ की रिपोर्ट कहती है कि बेरोज़गारी की दर पिछले 45 साल के रिकॉर्ड तोड़ चुकी है। चपरासी की 62 सीटों के लिए 93,000 लोग आवेदन कर रहे हैं जिनमें 5,400 पीएचडी होते हैं! 10,000 आरपीएफ़ जवानों की भर्ती में 95,00,000 लोग लाइन में होते हैं! ऐसे दौर में सिर्फ़ आरक्षण के भरोसे बैठने से आरक्षित आबादी को कुछ नहीं मिलने वाला है! चुनावी धन्धेबाज़ों के झाँसे में आकर सिर्फ़ आरक्षण तक ही अपने संघर्ष को सीमित रखना आत्मघाती होगा। वहीं सामान्य वर्ग को भी इस भुलावे में नहीं रहना चाहिए कि उनकी नौकरियों के मार्ग में आरक्षित श्रेणियों के लोग ज़िम्मेदार हैं बल्कि उन्हें भी सरकारों की रोज़गार विरोधी नीतियों में अपनी समस्या को देखना चाहिए तथा यही नहीं एक न्यायपसन्द इन्सान के नाते हर वर्ग के अधिकारों पर हो रहे हमले का विरोध करना चाहिए। इसीलिए हमें अपने संघर्ष के फ़लक को विस्तार देना चाहिए। हर जाति, हर मज़हब की ग़रीब आबादी की एकजुट ताक़त ही सरकारों को घुटने टेकने पर मजबूर कर सकती है और सबको शिक्षा और सबको रोज़गार के नारे में ही वह ताक़त है जो सबको एक एजेण्डे के तहत लामबद्ध कर सके।

अन्त में रोस्टर की ही बात पर वापस आते हैं। फ़िलहाल यूजीसी ने 13 पॉइण्ट रोस्टर को मान्यता दे दी थी, किन्तु अब मानव संसाधन मन्त्री प्रकाश जावड़ेकर ने 13 पॉइण्ट रोस्टर पर दख़ल की बात की है और इसके तहत होने वाली भर्तियों को रुकवाने की मंशा ज़ाहिर की है। अब प्रकाश जावड़ेकर फ़रमा रहे हैं कि यदि न्यायालय के माध्यम से बात नहीं बनी तो सरकार विभागवार आरक्षण के निर्णय के खिलाफ़ अध्यादेश या विधेयक लायेगी! किन्तु भाजपा के लिए असल में यहाँ साँप-छछून्दर वाली स्थिति हो गयी है। एक तरफ़ दलितों के वोट बैंक के दूर छिटकने का ख़तरा तो दूसरी तरफ़ सवर्ण वोट बैंक की नाराज़गी का ख़तरा। ऊपर से चुनाव का मौसम दिनों-दिन नज़दीक आ रहा है। 13 पॉइण्ट विभागवार रोस्टर सिस्टम के ख़िलाफ़ देश-भर में विभिन्न रूपों में संघर्ष फ़िलहाल जारी है। जनता की व्यापक एकजुटता ही सरकार के क़दम पीछे हटा सकती है। निर्णय भले ही कोर्ट का हो, पर पूरा प्रकरण मोदी सरकार की मंशा को भी बेपर्द करता है!

# बेरोज़गारी की विकराल स्थिति और सरकारी जुमलेबाज़ियाँ व झूठ

**(पेज 9 से आगे)**

मन्दी के दौर में ऐसा क़तई नहीं चाहेगा। भारत के पूँजीपति घराने यह शिकायत करेंगे कि विश्व बाज़ार में वे प्रतिस्पर्द्धा में पिछड़ जायेंगे, उनके निर्यात महँगे हो जायेंगे, देश में विदेशी पूँजी निवेश घट जायेगा, आदि-आदि। ज़ाहिर है, इसमें जनता का कोई घाटा नहीं होगा, हाँ, भारत के धनाढ्य वर्ग की ऐयाशी में कुछ कमी ज़रूर आ जायेगी। लेकिन क्या कांग्रेस, भाजपा, सपा, बसपा, माकपा, भाकपा जैसी पार्टियाँ या उनकी सरकारें ऐसी नीति का समर्थन करेंगी? नहीं! क्योंकि ये सभी चुनावबाज़ पार्टियाँ पूँजीपति वर्ग के ही किसी न किसी हिस्से के चन्दों, सहयोग और समर्थन पर खड़ी हैं और इनका काम ही इसी वर्ग के किसी न किसी हिस्से के हित में नीतियाँ बनाना है।

ऐसे में, अपने से तो इन पार्टियों की सरकारें रोज़गार गारण्टी देने से रहीं। चुनाव हारने के डर से मोदी सरकार तमाम उपहार देने की झूठी घोषणाएँ कर रही है, कांग्रेस की राज्य सरकारों ने किसानों को लुभाने के लिए ऋण माफ़ी करने का ऐलान कर दिया, तमाम अन्य सरकारें भी साड़ी, चावल, लैपटॉप, मोबाइल, साइकिल आदि बाँटती रही हैं, लेकिन कोई भी रोज़गार की गारण्टी देने की बात नहीं करता।

लेकिन यदि देश में एक व्यापक और जुझारू जनान्दोलन खड़ा किया जाये जो कि रोज़गार गारण्टी क़ानून की माँग के लिए सड़कों पर लम्बी लड़ाई लड़ने को तैयार हो, तो सरकार को रोज़गार गारण्टी क़ानून बनवाने और पारित कराने के लिए मजबूर किया जा सकता है। संसद में इसका विरोध करने वाला ख़ुद ही जनता के बीच नंगा हो जायेगा। लेकिन ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए देश भर में रोज़गार गारण्टी क़ानून के सवाल पर एक ज़बरदस्त आन्दोलन खड़ा करना होगा और लम्बे समय तक उसे चलाने की तैयारी करनी होगी।

## 'बसनेगा' अभियान क्यों?

'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून (बसनेगा) अभियान' एक ऐसा ही अभियान है, जो पिछले एक वर्ष से देश के कई हिस्सों में जारी है। इस अभियान का मक़सद है देश भर में रोज़गार गारण्टी अधिनियम के लिए एक ज़बरदस्त और जुझारू आन्दोलन खड़ा करना। इसकी मुख्य माँगें हैं संविधान में संशोधन करके रोज़गार के अधिकार को मूलभूत अधिकारों में शामिल किया जाये; देश के हरेक काम करने योग्य नागरिक को पक्के रोज़गार की गारण्टी के लिए राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून बनाया जाये, जिसके मातहत यह प्रावधान हो कि यदि सरकार किसी नागरिक को पक्का रोज़गार नहीं दे सकती है, तो उसे दस हज़ार रुपये प्रति माह बेरोज़गारी भत्ता दे; न्यूनतम मज़दूरी बीस हज़ार रुपये प्रति माह सुनिश्चित की जाये; ठेका प्रथा पर पूर्ण रोक लगायी जाये; सभी सरकारी रिक्त पदों को तत्काल भरा जाये; और सभी श्रम क़ानूनों को तत्काल लागू किया जाये। पिछले वर्ष, यानी 2018 में 25 मार्च को क़रीब चार हज़ार मज़दूर, कर्मचारी, छात्र, युवा और स्त्रियाँ जन्तर-मन्तर पर बसनेगा अभियान के तहत पहली रोज़गार अधिकार रैली में इकट्ठा हुए थे और प्रधानमन्त्री के नाम अपना माँगपत्रक सौंपा था। इस पहले प्रदर्शन में मोदी सरकार को यह चेतावनी दी गयी थी कि यदि वह रोज़गार गारण्टी अधिनियम पारित नहीं करवाती तो भाजपा और उसके मित्र दलों का पूर्ण बहिष्कार किया जायेगा। यह पहला पड़ाव था। ठीक एक वर्ष बाद, फिर से 3 मार्च को पहले से भी कहीं ज़्यादा तादाद में हज़ारों मज़दूर, कर्मचारी, महिलाएँ, छात्र और नौजवान अपने माँगपत्रक को लेकर रामलीला मैदान से संसद मार्ग तक दूसरी रोज़गार अधिकार रैली कर रहे हैं, जो संसद मार्ग पर रोज़गार अधिकार संसद में बदल जायेगी।

बसनेगा अभियान का मक़सद है 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' बनवाना और रोज़गार गारण्टी के क़ानूनी हक़ को हासिल करना। इसके लिए बसनेगा अभियान की संयोजन समिति ऐसे क़ानून का एक मसौदा भी तैयार कर रही है जिसे सभी पार्टियों के समक्ष पेश किया जायेगा और पब्लिक डोमेन में उसे उपलब्ध कराया जायेगा। ऐसा क़ानून बनना रोज़गार के हक़ की लम्बी लड़ाई की एक अहम मंज़िल होगा। लेकिन इस लड़ाई का अन्त नहीं होगा। उसके बाद इस क़ानून को सही ढंग से लागू करवाने और उसकी सार्वजनिक निगरानी की व्यवस्था बनवाने का संघर्ष भी करना होगा। लेकिन इतना ज़रूर है कि ऐसे क़ानून का निर्माण काम के हक़ के संघर्ष को एक अगली मंज़िल में ले जाने की ज़मीन तैयार करेगा, इसके लिए व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय, छात्रों, युवाओं और महिलाओं को एकजुट, गोलबन्द और संगठित करने का आधार तैयार करेगा।

# असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के लिए पेंशन योजना की असलियत

**– शाम मूर्ति**

भाजपा की नरेन्द्र मोदी की सरकार ने लोकसभा चुनाव से ठीक पहले वर्ष 2019-20 के अपने छठे केन्द्रीय पूर्ण बजट की जगह अन्तरिम बजट में असंगठित क्षेत्र के कामगारों के लिए एक नयी पेशन योजना पेश की है। कार्यवाहक वित्त मन्त्री पीयूष गोयल देश के असंगठित क्षेत्र के 42 करोड़ मज़दूर-मेहनतकश, जो बुढ़ापे में अपनी आजीविका का इन्तज़ाम नहीं कर सकते, को सामाजिक सुरक्षा देने के लिए "गारण्टेड" पेंशन योजना – प्रधानमन्त्री श्रमयोगी मानधन पेंशन (पीएमएसवाईएम) के सपने लेकर आयी है जिसे देश में 15 फ़रवरी से शुरू कर दिया गया है। साथ में यह भी कहा गया है कि 'आयुष्मान भारत' के अन्तर्गत स्वास्थ्य सेवा और 'प्रधानमन्त्री जीवन ज्योति योजना' के अन्तर्गत प्रदान किये गये जीवन और दिव्यांगता सम्बन्धी बीमा कवरेज के अलावा पीएमएसवाईएम असंगठित क्षेत्र के उन कामगारों के लिए है, जिनके लिए 500 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। और इसके अगले पाँच सालों में असंगठित क्षेत्र के लिए विश्व की सबसे बड़ी पेंशन योजना बनने का दावा भी किया गया है। चलिए पहले यह देख लेते हैं कि असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों में कौन शामिल है और उनकी हालत क्या है? इसमें घरेलू कामगार, ड्राइवर, प्लम्बर, रेहड़ी-पटरी वाले, रिक्शा चालक, खेती और निर्माण कार्य से जुड़े मज़दूर, कूड़ा बीनने वाले, कृषि कामगार, बीड़ी बनाने वाले, घर से काम करने वाले, हथकरघा कामगार, चमड़ा कामगार, मिड-डे मिल वर्कर, सिर पर बोझा उठाने वाले, ईंट भट्ठा मज़दूर, मोची, धोबी, ग्रामीण भूमिहीन, घरों में फ़ेरी लगाने वाले, सिर पर बोझा उठाने वाले, चीर-फाड़ करने वाले, टैक्सी-ऑटो ड्राइवर, बिजली का काम करने वाले, नाई आदि, या ऐसी किसी कम्पनी में काम करने वाले मज़दूर जिनको पहले से पेंशन सुविधा नहीं है। भारत में ऐसे में हाड़तोड़ मेहनत करने वाला मज़दूर कैसे और कितने 65 वर्ष की औसत उम्र के आसपास पहुँच पाते हैं। असुरक्षित माहौल में काम करने वाली, कम खाकर गुज़ारा करने वाली कुपोषित आबादी 65 से क्या ऊपर जाती है। आज के दौर में 70-90 साल की उम्र तक तो ज़्यादातर सिर्फ़ खाता-पीता सुविधाभोगी पूँजीपति वर्ग व उच्च मध्यवर्ग पहुँच पाता है, जिनके पास निजी स्वास्थ्य सेवाएँ ख़रीदने की औक़ात होती है, वही सब इसके लिए ज़िम्मेवार हैं।

मौजूदा मुनाफ़े तथा बाज़ार की ताक़तों द्वारा संचालित पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी सरकारें, चाहे राज्यों की हों या केन्द्र की, अपने देश की 5 प्रतिशत से भी कम आबादी की पुरानी पेंशन व्यवस्था की सुरक्षा ख़त्म करने की हद तक चली गयी है, वह 95 प्रतिशत से अधिक कामगार असुरक्षित आबादी को कैसे सामाजिक सुरक्षा दे पायेगी। सरकारी कर्मचारी देश में पुरानी पेंशन बहाली को लेकर आन्दोलन कर रहे हैं। देश में रुपये की क़ीमत लगातार कम होने का रुझान पिछले 70 दशकों से जारी है। अंशदान करने के 20 से 42 साल के बाद उसकी क़ीमत कितनी रह जायेगी। क्योंकि आज रुपये की क़ीमत सात पैसे से भी नीचे जा चुकी है और यह लगातार जारी है। साथ में ही बढ़ती महँगाई में एक मज़दूर 3000 रुपये से कितना सामान और सेवाएँ हासिल कर पायेगा। पेट्रोल-डीज़ल की वजह से सब चीज़ों की क़ीमतें लगातार बढ़ जाती हैं, चाहे अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमतें कम ही क्यों न हो जाये। जब किसी व्यक्ति के मज़दूरी या आमदनी से ज़्यादा महँगाई बढ़ जाती है। तो वह व्यक्ति कहाँ तक किश्तें भर पायेगा। इससे खाते बन्द होंगे और सरकार ऐसे खातों में पड़े पैसे को हड़प जायेगी। जैसे मज़दूरों के पीएफ़ का पूरा या एक हिस्सा अक्सर मारा जाता है। सरकार जानती है कि लोग ख़ुद की थक-हारकर बैठ जायेंगे। वो भी लेने नहीं आयेंगे। जैसे कई मालिक और ठेकेदार मज़दूरों का पैसा मार लेते हैं, दिहाड़ी टूटने की डर से वे उसे लेने ही नहीं जाते। वे अपनी ज़िन्दगी से जानते हैं कि चक्कर लगाने में ज़्यादा नुक़सान होगा, सबर का कड़वा घुट पीकर रह जाते हैं। और अब जबकि न्यूनतम बैलेंस न होने पर बैंक द्वारा जनता का पैसा पहले ही हड़पा जा रहा है, तब कोई क़ानूनी सुनवाई भी नहीं कर पायेगा।

सरकारी व निजी क्षेत्र के चापलूस व टुकड़ख़ोर विशेषज्ञों का कहना है कि नयी और अधिक सस्ती पेंशन योजना एक बेहतर सफलता हो सकती है, अगर इसे बेहतर तरीक़े से लागू किया जाये। पहले तो इनसे आँखों में आँखें डालकर यह सवाल करना होगा कि एक पार्षद से विधायक, फिर सांसद बनने वाला एक व्यक्ति तीन-तीन पेंशनें छोड़े और महज़ एक ही पेंशन ले। फिर भारत के लगभग 50 करोड़ कार्यबल, 95% से अधिक कार्यबल अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के दायरे में आता है, उस आबादी के पास किसी भी तरह की सामाजिक सुरक्षा नहीं है।

अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों से हर महीने निश्चित रक़म वसूलने के बाद उन्हें 60 वर्ष की आयु के बाद पेंशन दोगे, वह भी 3000 रुपये। यह इस फ़ासिस्ट सरकार द्वारा किया गया क्रूर मज़ाक़ नहीं तो क्या है। यह तर्क भी दिया जाता है कि असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को विशेष रूप से 15,000 रुपये से कम मज़दूरी या आमदनी होती है, वे किसी भी पेंशन योजना में शामिल नहीं होते हैं। ये वे लोग हैं जो दिहाड़ी मज़दूरी करते हैं और उन्हें आमतौर पर बचत की आदत नहीं होती है। वे लोग जिनकी आय 15,000 रुपये से अधिक होती है, वे कर्मचारी भविष्य निधि (ईपीएफ़) योजना के तहत पात्र होते हैं, इसलिए पीएमएसवायएम उन लोगों का ध्यान रखेगी जो ईपीएफ़ के दायरे से बाहर है।

सरकार जिस चीज़ को ख़ुद ही स्वीकार कर रही है कि 50 फ़ीसदी जीडीपी में योगदान देने वाली आबादी के हालत : भारत के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का आधा हिस्सा इन्हीं मज़दूरों के ख़ून-पसीने की कमाई से आता है, उसकी हालत बहुत ख़राब है। ऐसे कामगारों को प्राय: सरकारों की ओर से तय न्यूनतम वेतन भी नहीं मिलता और न ही पेंशन या स्वास्थ्य बीमा जैसी सामाजिक सुरक्षा मिल पाती है। सरकार जिनकी मासिक आय 15 हज़ार रुपये या इससे कम है। ऐसे में केन्द्र सरकार ने सोशल सिक्योरिटी कोड 2018 के तहत देश में काम करने वाले सभी 50 करोड़ वर्कर्स को पीएफ़, पेंशन, मेडिकल इन्श्योरेंस सहित सभी तरह की सामाजिक सुरक्षा मुहैया कराने की "मैगा" योजना तो बीरबल की खिचड़ी ही साबित होगी।

तब **पहला** सवाल यही है कि अगर कामगार का वेतन 15,000 से थोड़ा भी बढ़ता है या कम होता है तो सरकार कैसे पता लगायेगी कि किसे इस पेंशन स्कीम के दायरे में कब रखा जाना चाहिए और कब नहीं। सरकार के पास अभी तक इस पर कोई स्पष्ट पैमाना, योजना, घोषणा नहीं है। क्योंकि अनौपचारिक व औपचारिक क्षेत्र के असंगठित कामगारों को कभी नियमित रोज़गार तो मिलता नहीं है। जिनको मिलता है उनके हालात सबके सामने हैं। मालिक/प्रबन्धन/नियोक्ता कभी सीजन में ओवरटाइम (सिंगल व जबरिया) लगवा कर बाद में ब्रेक दे देता है। साप्ताहिक छुट्टी, काम के घण्टे तय नहीं है, समय तय नहीं है। छुट्टी करने पर पैसा काट लिया जाता है या मज़बूरी में छुट्टी करने पर रोज़गार ही छीन जाता है। ऐसे में ख़ुद कामगार क्या ऐसी योजना का जोखिम उठायेगा? **दूसरा,** अगर इस योजना में 18 से 40 साल तक के कामगार ही शामिल हो सकते हैं, तब आप उनका क्या करेंगे, जिन्हें देश में 40 साल के बाद छँटनी, तालाबन्दी के ज़रिये काम से निकाला जा रहा है। फ़ैक्ट्रियों के मालिक 25 साल के बाद काम पर रखने में आनाकानी करते हैं। जिनको पहले से पक्के रोज़गार की सुविधा दी अब वे तेज़ी से बेरोज़गार हो रहे हैं। कुछ बचे हुए मज़दूर ठेका-दिहाड़ी-पीस पर अनौपचारिक क्षेत्र के असंगठित मज़दूरों की तरह खटने को मज़बूर हो रहे हैं। फिर, ऐसे में दण्ड देकर चालू करने या पेंशन बन्द देने करने की व्यवस्था होने के क्या मायने रह जायेंगे? असुरक्षित और असुरक्षित होता जायेगा। बढ़ती मँहगाई, चीज़ों की बढ़ती क़ीमतें और घटती रुपये की क़ीमत, घट रहे रोज़गार में तो कल तक जो अंशदान दे रहे थे, आज अंशदान (किश्त) बढ़ने में दिक़्क़त का सामना करेंगे, और इसके ऊपर एजेंसी इस पर जुर्माना लगायेगी दोबारा शुरू करने में और अगर दोबारा शुरू नहीं किया तो काग़ज़ी कार्रवाई के नाम पर पैसा काट बाक़ी आपके हाथ में रख देगी। तब कहाँ रही आपकी सुरक्षा!? कम पैसा लेने तो मज़दूर मालिक के पास भी नहीं जाते और न ही बैंकों और पीएफ़ ऑफ़िसों के चक्कर लगाते हैं, क्योंकि इससे ज़्यादा उनकी दिहाड़ी टूटती है।

मासिक योगदान की रक़म उम्र के आधार पर तय होगी और उसमें 60 साल की उम्र तक योगदान करना होगा। ऐसा ही कुछ पहले से चल रही अटल पेंशन योजना में था। तो यह नया झमेला क्यों? उसी को सुधार क्यों नहीं लिया गया? पहले से असंगठित क्षेत्र के लिए योजनाएँ थीं, पर दिक़्क़त कहाँ थी, इस पर कोई चर्चा नही। उनके नाम बदल कर और कुछ नुक़्तों में बदलाव तो कर दिया गया, लेकिन असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों का भला होता तो दिखा नहीं है। अटल पेंशन योजना से पहले स्वावलम्बन योजना चल रही थी, जिसे सुधारने की बजाय नाम बदलकर अटल पेंशन योजना में तब्दील कर दिया गया था। क्या इस बार ऐसा ही दोहराया जायेगा? पहले की योजनाओं को क्यों बदला इसकी कोई समीक्षा और इस पर आधिकारिक जाँच-पड़ताल हुई है कि नहीं, अगर हुई है तो क्या इसे पब्लिक किया गया है कि नहीं? किसी को कुछ नहीं पता!

सरकार ने कहा कि योजना में शामिल होने के लिए कामगार के पास उसका बैंक खाता, आधार कार्ड और मोबाइल नम्बर होना ज़रूरी है। इसका क्या मतलब? एक तीर से कई निशाने साधने की पुरानी तकनीक को ही आगे बढ़ाया जा रहा है। असंगठित क्षेत्र के कितने लोगों के पास फ़ोन हैं और वह इसे कितना चलाना जानते हैं? देश की कितने प्रतिशत आबादी सही मायने में साक्षर है। इससे फ़ोन कम्पनियों का कारोबार तो ज़रूर बढ़ जायेगा और लेकिन हमारी जेब से पैसा और कम होता जायेगा। अगर दो व्यक्ति से ज़्यादा लोग काम करते हैं तो इसका मतलब घर में हर किसी के पास एक फ़ोन भी होगा। ख़र्चा कम हुआ या ज़्यादा आप ख़ुद सोचिए! रही बात बैंक खाते की तो जीरो बैलेंस वाले पहले अकाउण्ट खुलवाये, फिर बाद में न्यूनतम बैलेंस न होने पर सारा पैसा ही बैंक वाले खा गये।

यदि कामगार जुड़ने की तारीख़ से 10 साल के अन्दर स्कीम से निकलने का इच्छुक है। 10 साल के बाद, चाहे 60 साल पूरा होने पर या 60 साल की उम्र से पहले अस्थायी रूप से विकलांग हो जाता है और तो केवल उसके हिस्से के योगदान को बचत खाते की ब्याज़ दर से लौटा दिया जायेगा। ऐसा तो इंसान दो ही सूरत में करेगा, एक तो अगर उस पर मुसीबत पड़ गयी और पैसा चाहिए तो मज़बूरी में दुख-सुख में पैसा निकलवा लेगा और अगर दोबारा लौटता है तो उसे अंशदान की राशि बढ़ानी पड़ेगी। तभी 60 साल के बाद पेंशन की रक़म मिल पायेगी। एक तो अभी-अभी समस्या से गुज़र कर आया, दोबारा बढ़ी हुई राशि देना और भी मुश्किल होता जायेगा। 60 साल के बाद यानी पेंशन शुरू होने के बाद किसी कामगार की मौत होने पर उसके पति/पत्नी 50 प्रतिशत यानी 1,500 रुपये पेंशन के रूप में देती ही जाती है तो उसका जीवन साथी 1,500 रुपये में अपना गुज़ारा कर लेगा क्या? यह मज़ाक़ की हद हो गयी है। आपका बुढ़ापा भी बाज़ार की ताक़तों पर निर्भर है। यहाँ पर सरकार ख़ुद एक बिज़नेसमैन की भूमिका अदा कर रही है। पैसा लगाया है तो ठीक, नहीं तो जाओ भाड़ में। जिसके पास नहीं था अपने गुज़ारे लायक़ वो भला कैसे अपने को या जीवन साथी को बचा पायेगा। **आठवाँ,** कामगार और उसके जीवनसाथी की मौत होने की दशा में रक़म को वापस फ़ण्ड में क्रेडिट यानी वापस कर दिया जायेगा। उसके पीछे परिवार में छूटे हुए बच्चे कहाँ जायेंगे, क्या कोई बता सकता है?

सरकार ने कहा कि प्रधानमन्त्री जीवन बीमा योजना (पीएजेबीवाई) और प्रधानमन्त्री सुरक्षा बीमा योजना (पीएमएसबीआई) के तहत दुर्घटना बीमा योजना के अतिरिक्त है। 15,000 रुपये महीने से ज़्यादा वेतन वाले कर्मचारी प्रॉविडेण्ट फ़ण्ड ऑर्गनाइजेशन या एम्प्लॉयीज स्टेट इंश्योरेंस कारपोरेशन के तहत कवर्ड हैं, लिहाजा उन्हें प्रस्तावित योजना के दायरे से बाहर रखा जायेगा। इसका तो सीधा सा एक ही उत्तर है कि देश में एक ही वृहद पेंशन योजना होनी चाहिए पेंशन की न कि अलग आमदनी वाले लोगों के लिए अलग। सरकारी हो या प्राइवेट। स्थायी या अस्थायी, औपचारिक क्षेत्र से हो या अनौपचारिक क्षेत्र से। रोज़गार हो या न हो। जीवन सुरक्षा सबके लिए ज़रूरी है। ऐसे में अगल-अलग मुद्दों की बजाय एक की योजना हो चाहे वह पेंशन हो, दुर्घटना बीमा हो, भविष्य निधि हो। सब सरकारी योजनाओं के रूप में चलाया जाये।

अनौपचारिक और औपचारिक क्षेत्र के असंगठित मज़दूरों/कर्मचारियों/मेहनतकशों को सरकार द्वारा सुझाए गये पेंशन के टुकड़े की असलियत को समझना होगा और पूरी सामाजिक सुरक्षा के लिए अपना एजेण्डा सेट करना होगा और अपना माँगपत्रक पेश करना होगा। सबको पक्का, सुरक्षित और मज़दूर पक्षीय श्रम-क़ानून सम्मत रोज़गार की गारण्टी के साथ-साथ सबको समान शिक्षा, इलाज, पेंशन योजना जैसी बुनियादी ज़रूरत मुहैया कराये, वरना गद्दी छोड़ दे।

# ज़हर का शिकार बनती स्त्री मज़दूरों के सवाल पर संघर्ष

*प्रसिद्ध पुस्तक 'ज़ार की दूमा में बोल्शेविकों का काम' के कुछ हिस्सों की श्रृंखला में **तीसरी कड़ी** प्रस्तुत है। दूमा रूस की संसद को कहते थे। एक साधारण मज़दूर से दूमा में बोल्शेविक पार्टी के सदस्य बने **ए. बादायेव** द्वारा क़रीब 100 साल पहले लिखी इस किताब से आज भी बहुत–सी चीज़ें सीखी जा सकती हैं। बोल्शेविकों ने अपनी बात लोगों तक पहुँचाने और पूँजीवादी लोकतन्त्र की असलियत का भण्डाफोड़ करने के लिए संसद के मंच का किस तरह से इस्तेमाल किया इसे लेखक ने अपने अनुभवों के ज़रिए बख़ूबी दिखाया है। यहाँ हम जो अंश प्रस्तुत कर रहे हैं उनमें उस वक़्त रूस में जारी मज़दूर संघर्षों का दिलचस्प वर्णन होने के साथ ही श्रम विभाग तथा पूँजीवादी संसद की मालिक–परस्ती का पर्दाफ़ाश किया गया है जिससे यह साफ़ हो जाता है कि मज़दूरों को अपने हक़ पाने के लिए किसी क़ानूनी भ्रम में नहीं रहना चाहिए बल्कि अपनी एकजुटता और संघर्ष पर ही भरोसा करना चाहिए। इसे पढ़ते हुए पाठकों को लगेगा कि मानो इसमें जिन स्थितियों का वर्णन किया गया है वे हज़ारों मील दूर रूस में नहीं बल्कि हमारे आसपास की ही हैं। 'मज़दूर बिगुल' के लिए इस श्रृंखला को **सत्यम** ने तैयार किया है।*

### हड़ताल आन्दोलन का विकास

मार्च 1914 में सेण्ट पीटर्सबर्ग में ऐसी कई घटनाएँ घटीं जिन्होंने मज़दूर आन्दोलन के ज़ोरदार विस्फोट की माँग की। महीने की शुरुआत में सेण्ट पीटर्सबर्ग में कई राजनीतिक हड़तालें हुईं। मज़दूर प्रेस के उत्पीड़न, दूमा द्वारा हमारे धड़े के विप्रश्नों की सिलसिलेवार नामंजूरी, मज़दूर संगठनों और शैक्षणिक संगठनों इत्यादि के उत्पीड़न और दमन के ख़िलाफ एक दिवसीय हड़तालें कीं। आन्दोलन सारे शहर में फैल गया और इसमें बहुत से मज़दूर शामिल थे। हथियार बढ़ाने के मक़सद से दूमा के अध्यक्ष रोड्ज़ियाँको द्वारा गुप्त सम्मेलन के आयोजन का भी मज़दूरों ने विरोध किया। ट्रुडोविक्स और समाजवादी लोकतान्त्रिकों को छोड़कर दूमा के सभी धड़ों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित किया गया। और जब हमने हथियारों पर जनता के पैसों के इस ताज़ा दुरुपयोग की निन्दा की तो 30,000 मज़दूरों ने हड़ताल करके हमारा समर्थन किया।

मार्च भर आन्दोलन बढ़ता रहा और लेना मज़दूरों पर हुई गोलीबारों की बरसी पर इसने और भी ज़ोर पकड़ लिया। सरकार ने दूमा की मंजूरी के बावजूद जाँच की माँग करने वाले हमारे विप्रश्न का जवाब नहीं दिया। आसन्न बरसी को देखते हुए हमने सरकार को जल्द से जल्द जवाब देने पर विवश करने के लिए नया विप्रश्न लाने का निश्चय किया।

पार्टी के सभी संयोजक बरसी के निदर्शन की तैयारी कर रहे थे और सभी फ़ैक्टरियों और कारख़ानों पर प्रचार अभियान चला रहे थे। सेण्ट पीटर्सबर्ग कमिटी ने एक घोषणा पत्र जारी करके विप्रश्न के समर्थन में सड़कों पर प्रदर्शन करने के लिए मज़दूरों का आह्वान किया।

13 मार्च को प्रदर्शन का दिन मुकर्रर किया गया था, और विबॅर्ग ज़िले में हड़ताल शुरू हो गयी। नोबी ऐवाज़ कारख़ाने में रात की शिफ़्ट सुबह 3 बजे छूटी और सुबह दूसरे मज़दूर भी उनसे आ मिले। जल्द ही यह हड़ताल शहर-भर में फैल गयी और 60,000 से अधिक लोगों ने आन्दोलन में भाग लिया। उनमें से 40,000 मज़दूर मेटल कारख़ाने के थे। फ़ैक्टरियों में विरोध के प्रस्ताव पारित हुए और मज़दूरों के बीच मौजूद पार्टी सदस्यों ने उन्हें लेना की गोलीबारी की याद दिलायी और क्रान्तिकारी संघर्ष के सामान्य कामों के बारे में बताया।

क्रान्तिकारी गीत गाते और अपने लाल परचम लहराते हुए मज़दूर फ़ैक्टरियों और कारख़ानों के बाहर आ गये। लेसनर के मज़दूर विबॅर्ग की ओर से निकल कर दूमा की तरफ़ बढ़े लेकिन लिटेनी पुल पर पुलिस की एक गश्ती टुकड़ी ने उन्हें रोक लिया। एक दूसरी भीड़ बर्फ़ पर नेवा पार करने में कामयाब रही, और लाल परचम लिए वोस्क्रेसेंस्की पोत घाट से होते हुए दूमा भवन की ओर बढ़ी। प्रदर्शनकारियों पर घुड़सवार सैनिकों ने अपने चाबुक फटकारते हुए हमला कर दिया, भीड़ ने पत्थरों से उनका जवाब दिया जिसमें एक पुलिसिया घायल हो गया। शहर के दूसरे हिस्सों में भी पुलिस के साथ मुठभेड़ हुई और नेव्स्की प्रॉस्पेक्ट के आस-पास केन्द्र में भी प्रदर्शन हुए।

हड़ताल अगले दिन भी जारी रही, जिसमें कई और फ़ैक्टरियाँ शामिल हो गयीं। और भी बहुत से प्रदर्शन हुए जिनमें 65,000 मज़दूर शामिल हुए।

इस आन्दोलन के बाद रबड़ फ़ैक्टरियों में कामकाजी महिलाओं की ज़हरख़ुरानी के कारण हड़तालों की एक नयी लहर चल पड़ी। यह नहीं, हड़ताल की यह लहर पिछली वाली के मुक़ाबले अधिक ज़ोरदार थी, उनमें भाग लेने वाले मज़दूरों की तादात और सड़क पर उनकी कार्रवाइयों, दोनों की दृष्टि से।

रिगा की सबसे बड़ी फ़ैक्टरी प्रोवोद्रिक गोलोशेस के मज़दूरों की मार्फ़त महिला मज़दूरों की विषाक्तता की सूचना सबसे पहले हमारे धड़े को मिली। वहाँ के मज़दूर गोलोशेज़ को चमकाने के लिए इस्तेमाल होने वाली घटिया क़िस्म की पॉलिश से उठने वाले धुएँ से सिलसिलेवार ढंग से विषाक्तता का शिकार हो रहे थे। कुछ महिलाएँ बस मामूली सी प्रभावित हुई थीं जो बेहोशी के छोटे-से दौरे और हल्की-सी बीमारी के बाद ठीक हो गयी थीं, लेकिन कुछ मौतें भी हुई थीं। पचहत्तर कोपेक की भीख-मँगाई जैसी मामूली मज़दूरी के लिए दिन के तेरह घण्टे काम करने से मज़दूरों की सेहत ख़राब हो जाती थी जिसकी वजह से वे विषैले धुएँ को सहन नहीं कर पाते थे।

महिला मज़दूरों ने प्रबन्धन और फ़ैक्टरी निरीक्षक से कई बार कामकाजी माहौल सुधारने की माँग की थी और ख़ासतौर से इसका अनुरोध किया था कि ख़तरनाक पॉलिश का उपयोग बन्द किया जाये। अधिकारियों का जवाब यह था कि जिनकी सहनशक्ति कमज़ोर है वे काम छोड़कर जा सकते हैं। अन्ततः एक और प्रकोप के बाद, प्रोवोद्रिक के मज़दूरों ने इस मामले में ध्यान देने के लिए प्रशासन को विवश करने में मदद के लिए धड़े से अनुरोध किया।

### लेना की घटनाओं पर संसद में चर्चा के अवसर पर हड़ताल

हमने जाँच के लिए मालिनोव्स्कीको रिगा भेजा, उन्होंने जो तथ्य जुटाये उनके आधार पर एक विप्रश्न का मसविदा तैयार किया गया और उसे दूमा में पेश किया गया। उसकी शुरुआत कुछ इस तरह से की गयी थी:

मज़दूरों का शारीरिक क्षय और आयेदिन की मौतें पूँजीपतियों द्वारा सर्वहाराओं के शोषण का नतीजा हैं। रूसी मज़दूरों का मताधिकार से वंचित होना और शक्तिशाली पूँजीपतियों के गँठजोड़ों के मुक़ाबले जो सरकारी पदों पर आसीन सभी राजनीतियों को नियन्त्रित करते हैं, मज़दूर वर्ग की कमज़ोरी ने उन्हें भूदासों से भी बदतर हालात में पहुँचा दिया है। गोल्डफ़ील्ड्स की घटनाओं ने इन हालात में एक नमूना पेश किया था, जहाँ मज़दूरों को अश्वमांस खिलाया जाता था, निकाल बाहर किया जाता था, टैगा में तब्दील कर दिया जाता था और अन्ततः गोली मार दी जाती थी। और अब रिगा में हमारे धड़े के सदस्य मालिनोव्स्की द्वारा की गयी ताज़ा जाँच से पूँजीवादियों की उसी तरह की निर्ममता और अधिकारियों के नाकारेपन का एक और मामला सामने आया है।

रिगा के सबसे बड़े औद्योगिक उपक्रम प्रोवोद्रिक रबड़ फ़ैक्टरी में, जिसमें कोई 13,000 मज़दूर काम करते हैं, जिनमें से अधिकतर महिलाएँ हैं, यह नयी त्रासदी घटी है... हमने ज़ोर देकर कहा कि विप्रश्न अत्यावश्यक है, लेकिन इससे पहले कि उसे दूमा की कार्यसूची में रखा जाता, ख़ुद सेण्ट पीटर्सबर्ग में भी उसी तरह की घटनाएँ घट गयीं।

### प्रोवाद्रिक और ट्रेउगोल्निक फ़ैक्टरियों में ज़हर का शिकार बनतीं स्त्री मज़दूर

12 मार्च को मुझे दूमा में संसदीय प्रश्न आयोग की बैठक से एक फ़ोन का जवाब देने के लिए बुलाया गया। वहाँ हमारे धड़े की सहायता करने वाले एक मज़दूर ने मुझे उतावले स्वर में बताया कि ट्रेउगोल्निक फ़ैक्टरी के मज़दूर किसी डिप्यूटी के उनसे मिलने की माँग कर रहे हैं। विषाक्तता की कई घटनाएँ हुई हैं और मज़दूर घबराये हुए हैं।

मैं तुरन्त उस फ़ैक्टरी पर गया और उसके गेट पर मज़दूरों की उत्तेजित भीड़ से मिला। वे मुझ पर सवालों की बौछार करने लगे, लेकिन चूँकि मुझे कुछ पता नहीं था इसलिए मैंने उनसे यह जानने की कोशिश की कि हुआ क्या है। यह बड़ा कठिन था क्योंकि महिला मज़दूरों ने विषाक्तता के बारे में अपने ढंग से बताया, यहाँ तक कि उनमें से कुछ तो उसे ताऊन बता रही थीं, और इस बीच मज़दूर-पर-मज़दूर प्रथमोपचार कक्ष में ले जाये जा रहे थे।

कई लोगों की आपबीती सुनने के बाद मैं समझ गया कि फ़ैक्टरी में हुआ क्या है। उस सुबह रबड़ के जूतों (गोलोशेज़) के लिए एक नयी पॉलिश दी गयी थी, बेंज़ीन का एक घटिया क़िस्म का विकल्प जिसका मुख्य घटक विषैली गैसें छोड़ता था। थोड़ी देर बाद बहुत-सी औरतें बेहोश होने लगीं। कारुणिक दृष्य उत्पन्न हो गया, कुछ महिलाओं पर ज़हर का प्रभाव इतना तगड़ा था कि पीड़ित पागल हो गये और कुछ की नाक और मुँह से ख़ून आने लगा। छोटा-सा अनुपयुक्त प्रथमोपचार कक्ष शवों से अटा पड़ा था और नये मरीजों को डाइनिंग रूम में ले जाया जा रहा था और उन तमाम लोगों को जो चल-फिर सकते थे, फ़ैक्टरी के बाहर भेज दिया गया था। "यदि वे वहाँ गिर गये तो उन्हें पुलिस पकड़ लेगी।" प्रबन्धन इस तरह का मानवद्वेषी बहाना बना रहा था।

10,000 मज़दूरों वाले एक विभाग में लगभग 200 (जिसमें केवल 20 पुरुष थे) मज़दूर विषाक्तता के शिकार हुए। फ़ैक्टरी में काम करने वाले 13000 मज़दूरों में अधिकांश महिलाएँ थीं और उनका सबसे निर्मम शोषण किया था। गोलोशेज मज़दूरों की आय दस घण्टे के काम के बदले चालीस से नब्बे कोपेक तक थी; शाम के भोजन तक के लिए छुट्टी नहीं दी जाती थी और ओवरटाइम आम था जबकि ट्रेउगोल्निक फ़ैक्टरी के मालिकान सालाना एक करोड़ रूबल का मुनाफ़ा कमाते थे।

दिन के अन्त तक लगभग एक हज़ार मज़दूर फ़ैक्टरी के अहाते में जमा हो गये और माँग की कि प्रबन्धन बयान जारी करके शिकारों की संख्या, उनके नाम, हादसे के कारणों के बारे में बताये। भीड़ में हादसे से प्रभावित मज़दूरों के सगे-सम्बन्धी भी थे और सभी अत्यधिक उत्तेजित थे। प्रबन्धन ने मज़दूरों को कोई भी सूचना देने से मना कर दिया और पुलिस बुला ली। एक मज़दूर फ़ैक्टरी की दीवार पर खड़ा होकर भाषण दे रहा कि पुलिस आ गयी और भीड़ को गेट के बाहर खदेड़ दिया। अपने सगे-सम्बन्धियों की नियति के बारे में आशंकित और उन मालिकान से रुष्ट होकर घर लौट गये जो ज़्यादा मुनाफ़े के लिए मज़दूरों को ज़हर दे रहे थे। अगले दिन फ़ैक्टरी के दूसरे विभाग में विषाक्तता का हादसा हो गया और प्रथमोपचार कक्ष फिर से पीड़ित महिलाओं से भर गया।

महिला मज़दूरों ने यह कहते हुए विरोध जताया कि इन हालात में काम जारी रखना असम्भव है लेकिन प्रबन्धक ने निर्दयता से जवाब में कहा कि: "यह नासमझी है तुम्हें इस तरह के माहौल का आदी हो जाना चाहिए। हम कुछ हादसों के कारण यह पॉलिश नहीं फेंक सकते, हमें अपने अनुबन्ध पूरे करने ही हैं। तुम्हें इसकी आदत पड़ जायेगी।"

काम के बाद फ़ैक्टरी के गेट के पास एक सभा बुलायी गयी जिसमें कई हज़ार मज़दूरों ने भाग लिया। कई सुझाव दिये गये लेकिन किसी फ़ैसले पर अमल होने से पहले बड़ी संख्या में पुलिस आ धमकी और भीड़ को खदेड़ने लगी। पुलिस पर पत्थर और सीमेण्ट के टुकड़े फेंके गये जिससे दो पुलिसिए घायल हो गये।

अगले दिन जब और मज़दूर घायल हो गये तो मज़दूरों के सब्र की इन्तिहा हो गयी। उन्होंने सभी विभागों में काम बन्द कर दिया और अहाते में जमा हो गये; बिना पूर्व तैयारी के हड़ताल की घोषणा कर दी गयी। लगभग दस हज़ार हड़ताली मज़दूर फ़ैक्टरी के दरवाज़ों के गिर्द जमा हो गये और असहमति के नारे वक्ताओं के भाषणों में दख़लन्दाज़ी करने लगे। अभी वे प्रबन्धन के सामने रखी जाने वाली माँगों की चर्चा कर ही रहे थे कि घुड़सवार पुलिस घटना स्थल पर आ पहुँची और अपने चाबुक फटकारती भीड़ के बीच जा घुसी। मज़दूर प्रतिरोध में पत्थर और ईंटें फेंकने लगे। इसी बीच घुड़सवार पुलिसियों की और कुमुक आ पहुँची और खिंची तलवारों से हमले करते हुए उन्हें हर दिशा में खदड़ेने लगे। और कुछ को ओब्बोदनी कैनाल में धकेल दिया। दोनों तरफ़ कई लोग हताहत हुए और बहुत से मज़दूर गिरफ़्तार कर लिये गये।

ताज़ा विक्षोभ से बचने के लिए मैंने अपने धड़े की एक विशेष बैठक में इसकी सूचना दी जिसमें रिगा की घटनाओं को जिन्हें पहले भी उठाया गया था, जोड़ते हुए इस मामले में एक और अत्यावश्यक विप्रश्न लाने का निश्चय किया गया। बहरहाल, मार्च 15 को एक सन्देश के ज़रिये हमें विषाक्तता के एक ताज़ा मामले की सूचना दी गयी। इस बार का हादसा बोग्दानोब तम्बाकू फ़ैक्टरी में हुआ था।

कैबिनेट स्ट्रीट पर जहाँ यह फ़ैक्टरी

**(पेज 14 पर जारी)**

# ज़हर का शिकार बनती स्त्री मज़दूरों के सवाल पर संघर्ष

(पेज 13 से आगे)

स्थित थी, मेरी मुलाक़ात लगभग 2000 मज़दूरों से हुई जो घबराहट में काम छोड़कर भाग आये थे। मैं फ़ैक्टरी के गेट के भीतर गया और मज़दूरों से मुझे पता लगा कि वहाँ बिल्कुल ट्रेउगोल्निक जैसी घटनाएँ घटी हैं। मैं फ़ैक्टरी की विषाक्तता के बारे में उसके निदेशक का जवाब पाने के लिए उससे मिला, लेकिन उसका जवाब खुला मज़ाक़ था: "फ़ैक्टरी में विषाक्तता पैदा कर सकने लायक कुछ भी नहीं है। महिलाओं को विषाक्तता इसलिए हुई कि वे भूखी रह रही थीं और सड़ी मछलियाँ खा रही थीं। बेहोशी के दौरों का कारण यही है।" इससे स्पष्ट हो गया कि प्रबन्धन ने सारा दोष मज़दूरों के मत्थे मढ़ने का मन बना लिया है।

अगले दिन मैंने 'प्रावदा' के लिए फ़ैक्टरी के दौरे का विस्तृत ब्योरा लिखा और मज़दूरों का आह्वान किया: "इस तरह की घटनाओं की पुनरावृत्ति रोकने के लिए मज़दूरों का बेहतर ढंग से संगठित होना और तम्बाकू मज़दूरों का अपना मज़दूर संगठन बनाना ज़रूरी है।" प्रावदा में इस तरह की विषाक्तताओं के बारे में बहुत से लेख छपे जिनमें इसका उल्लेख किया गया था कि विषाक्तता की ये घटनाएँ शोषण का नतीजा हैं और इनके राजनीतिक निष्कर्ष निकाले गये थे।

दूसरी तम्बाकू फ़ैक्टरियों, छपाई कार्यालयों, इत्यादि, में भी विषाक्तता की घटनाएँ घटीं। पूरे सेण्ट पीटर्सबर्ग में इस रोग का बोलबाला था और इसके विस्फोट ने स्पष्ट कर दिया था कि ख़ासतौर से सेण्ट पीटर्सबर्ग में चिकित्सा सहायता पूरी तरह नदारद थी। कोई डॉक्टर या नर्स उपलब्ध नहीं थी, दवाओं का अभाव था और हताहतों के लिए कोई कमरा नहीं था।

प्रभावित फ़ैक्टरियों के उत्तेजित मज़दूर धड़े में आये और विषाक्तता के कारणों की जाँच करने और प्रभावितों को सान्त्वना देने के लिए हमसे अपनी फ़ैक्टरियों में चलने का अनुरोध किया। मुझे बहुत से मज़दूरों के यहाँ जाना पड़ा और हर जगह एक ही तस्वीर देखने को मिली। मज़दूर विषाक्तता के आसन्न ख़तरे से घबराये हुए थे और उनमें मालिकान के ख़िलाफ़ ज़बरदस्त असन्तोष था। हालाँकि सभी मामलों में विषाक्तता का असली कारण स्थापित करना मुमकिन नहीं था, लेकिन सभी मज़दूरों के सामने यह बात स्पष्ट थी कि दुर्घटनाओं का मुख्य कारण मालिकों की मुनाफ़ाख़ोरी थी जिसके लिए स्वास्थ्य और मज़दूर संरक्षण सम्बन्धी साधारण और सीधे-सादे नियमों की भी उपेक्षा की जा रही थी।

मज़दूरों के बीच व्यापक स्तर पर हुई विषाक्तता की घटनाओं से समाज की लगभग सभी शाखाएँ प्रभावित हुईं – पूँजीवादी अख़बार भी चुप न रह सके। हालाँकि उनका अपने ढंग से घटनाओं की व्याख्या करना स्वाभाविक था और उन्होंने उनसे पैसे बनाने की भी कोशिश की। पूँजीवाद के सबसे कट्टर समर्थकों ने फ़ैक्टरी मालिकों का पूरी तरह समर्थन किया और घोषणा की कि असली गुनहगार वे क्रान्तिकारी पार्टियाँ हैं जिन्होंने मज़दूरों को मालिकों के ख़िलाफ़ खड़ा करने की कोशिश की है। इस आशय का झूठा लांछन लगाया गया कि बोल्शेविक धड़े के आदेश पर काम कर रही "विषाक्तता की एक कमेटी" मज़दूरों के बीच असन्तोष पैदा करने के लिए काम कर रही है। सैकड़ों महिला मज़दूरों की बीमारी की स्पष्ट ज़िम्मेदारी से बचने की नाकाम कोशिश में एकजुट बुर्जुआज़ी ने जघन्यतम साधनों सहित सभी साधनों का उपयोग किया और झूठी चापलूसी की मुहिम चला दी।

## ट्रेउगोल्निक के बारे में संसद में सवाल

बहरहाल, ज़ारशाही की सरकार भी पूँजीवादी कलम घिस्सुओं के झूठ का अनुमोदन नहीं कर सकी। व्यापार और उद्योग मन्त्रालय की ओर से गठित आयोग ने माना कि "रबड़ उद्योग में मज़दूरों के बीमार होने का मुख्य कारण काम के दौरान साँस के साथ बेंज़ीन का जाना है।" दूमा में हमारे विप्रश्न का जवाब देते हुए व्यापार मन्त्रालय के एक अधिकारी लिटविनोव फ़ालिन्स्की यह मानने पर विवश हो गये कि विषाक्तताएँ घटिया क़िस्म की बेंज़ीन के कारण हुईं और यह भी कि तम्बाकू फ़ैक्टरियों में हुई विषाक्तताएँ इन विषाक्तताओं से थोड़ा-सा अलग थीं। महामारी के फैलने के मामले में लिटविनोव ने माना कि यह फ़ैक्टरियों के दमघोटू माहौल, मज़दूरों की कमज़ोरी, उनकी थकान और तनावग्रस्त तन्त्रिकाओं का नतीजा था। दरअसल, लिटविनोव उस व्यापक मनोविक्षिप्ति और उन्माद का उल्लेख करना न भूले, जिसके बारे में कहा गया था कि उसने इस रोग के फैलने में अहम भूमिका निभायी थी।

## सरकार की सफ़ाइयों का जवाब

यह बहस बहुत ही तनावपूर्ण माहौल में हुई थी। दूमा में मौजूद हर कोई जानता था कि पिछले दिनों विषाक्तताओं के विरोध में हुई हड़तालों में 30,000 से अधिक मज़दूर शामिल थे और बहुत सारे प्रदर्शन और पुलिस के साथ बहुत-सी झड़पें भी हुई थीं। दूमा में बहस चल ही रही थी कि और भी बहुत-से मज़दूर काम छोड़कर हड़ताल में शामिल हो गये। सेण्ट पीटर्सबर्ग के मज़दूर आवेश में और उत्तेजित थे, उनकी उत्तेजना ताउरिदा पैलेस में घुस आयी जिससे दूमा के ब्लैक हण्ड्रेड्स घबरा गये। ब्लैक हण्ड्रेड्स ने उस अवसर की हमारी तकरीरों को मज़दूरों से और भी कार्रवाई की अपील बता कर उनकी सही व्याख्या की और वे डरे हुए थे और हमारा गला घोंट देना चाहते थे।

रोड्ज़ियाँको के पहले वक्ता तुलियाकोव के भाषण को बीच में ही रोक देने के बाद बोलने की बारी मेरी थी। लेकिन मुझे देर तक बोलने नहीं दिया गया। मेरे भाषण में दक्षिणपन्थियों की चीख़पुकार और सभापति रोड्ज़ियाँको की, जिन्होंने कुछ देर बाद सही मौक़ा देखकर वाक्य के बीच में ही मुझे बोलने से रोक दिया, बार-बार की चेतावनियाँ और लगातार खलल डालती रहीं। अन्ततः बहस अगले सत्र तक के लिए टाल दी गयी।

## 120,000 मज़दूरों की हड़ताल

मज़दूरों का गुस्सा बढ़ गया और अगले दिन लगभग 120,000 मज़दूरों ने हड़ताल आन्दोलन में भाग लिया। पार्टी प्रकोष्ठ ने सभी फ़ैक्टरियों में शुरुआती आन्दोलन जारी रखे और पुलिस ने किसी भी तरह की कार्रवाई को रोकने के प्रयास किये। मज़दूरों के इलाक़ों में सघन तलाशियाँ ली गयीं और बहुत सारे मज़दूर गिरफ़्तार किये गये। गुप्त पुलिस ने मज़दूर संगठनों और बीमा समितियों के नेताओं पर विशेष ध्यान दिया, जिनमें से अधिकांश पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता थे। सभी नेताओं को ढूँढ़ निकालने की इस कोशिश के बावजूद आन्दोलन ने इतना बड़ा रूप ले लिया कि पुलिस उसका मुक़ाबला करने में सक्षम नहीं रह गयी।

शहर-भर में प्रदर्शन हुए। मज़दूरों ने क्रान्तिकारी गीत गाते हुए सड़कों पर जुलूस निकाले; शहर-भर के मज़दूर इलाक़ों में पैदल और घुड़सवार पुलिस भर गयी। शहर के विभिन्न हिस्सों में तेरह से अधिक विशाल प्रदर्शन हुए। एक मुठभेड़ में, जहाँ मज़दूरों ने गिरफ़्तार किये गये एक मज़दूर को छुड़ाना चाहा था, पुलिस ने रिवॉल्वरें निकाल लीं और भीड़ पर गोलीबारी की। गुत्थम-गुत्था की लड़ाई शुरू हो गयी लेकिन सख़्त प्रतिरोध के बावजूद तलवारों और चाबुकों से लैस पुलिस निहत्थे मज़दूरों पर भारी पड़ी। दूसरे ज़िलों में भी इसी तरह की झड़पें हुईं और आन्दोलनों में मज़दूरों का दृढ़ निश्चय और जोश देखने को मिला।

## ताला बन्दी

सरकार और पूँजीपतियों ने इस आन्दोलन के पीछे की चेतावनी भाँप ली थी और तुरन्त जवाबी हमला करने का फ़ैसला कर लिया। मार्च 20 को मैन्युफ़ैक्चर्स असोसिएशन ने तालाबन्दी की घोषणा कर दी जिससे लगभग 70,000 मज़दूर प्रभावित हुए। सभी बड़ी कार्यशालाएँ बन्द कर दी गयीं और सहायक नौसैन्य मन्त्री ने बाल्टिक गोदी में काम रोकने के आदेश जारी कर दिये। घोषणा की गयी कि हफ़्ते भर काम बन्द रहेगा और आगे फिर से हड़तालें हुईं तो एकमुश्त बर्ख़ास्तगियाँ होंगी। सभी कारख़ानों पर गश्ती पुलिस तैनात कर दी गयी।

मज़दूरों के ख़िलाफ़ इस खुली लड़ाई में सरकार तत्परता से नियोजकों की सहायता में उतर आयी और मज़दूरों के प्रतिरोध को कमज़ोर करने के लिए मेटल वर्कर्स यूनियन का दमन किया। शहर के गवर्नर के आदेश से "अग्रिम निर्णय आने तक के लिए" यूनियनों की गतिविधियाँ निलम्बित कर दी गयीं, जिसका आशय था तब तक के लिए जब तक कि सेण्ट पीटर्सबर्ग का सर्वहारा ज़ारशाही से लड़कर अपनी यूनियन को जीवनदान न दिला देता। सारे मोर्चे पर मज़दूरों के ख़िलाफ़ हमले जारी रहे।

इस तालाबन्दी ने, जिसने दसियों हज़ार मज़दूरों को सड़क पर ला दिया था, सेण्ट पीटर्सबर्ग के सर्वहाराओं के बीच काफ़ी हो-हल्ला मचा दिया और बुर्जुआओं के लिए भी ख़तरे की घण्टी बजा दी थी। इस ख़तरे के कारण ही म्युनिसिपल अधिकारियों ने बेरोज़गार हुए लोगों के लिए सूप किचेन के आयोजन के लिए 100,000 रूबल का आबण्टन किया। इसकी विशेषता यह थी कि जैसे ही मज़दूरों की समस्या कुछ हल हुई यह फ़ैसला रद्द कर दिया गया जबकि सेण्ट पीटर्सबर्ग में पहले जितने ही लोग बेरोज़गार थे।

प्रभावित फ़ैक्टरियों और कारख़ानों के प्रतिनिधि हमारे धड़े के दफ़्तर में हमसे मिलने आये और हमसे यह तालाबन्दी तुड़वाने के उपाय करने का अनुरोध किया जिसके कारण हज़ारों मज़दूरों के सामने भुखमरी का संकट आ खड़ा हुआ था। नार्वा ज़िले के संगठित मज़दूरों ने निम्नलिखित प्रस्ताव भेजा:

हम तालाबन्दी को मैन्युफ़ैक्चरिंग एसोसिएशन की ओर से दी गयी उकसाऊ चुनौती मानते हैं। हम सामाजिक लोकतान्त्रिक धड़े के जन प्रतिनिधियों से अनुरोध करते हैं कि वे व्यापार-उद्योग मन्त्री से सवाल करें और तीन दिन के भीतर जवाब माँगें। हम यह प्रस्ताव भी रखते हैं कि सारे बेकार मज़दूर अपने बेकार भाइयों को मौद्रिक सहायता दें।

पिछली तालाबन्दियों की तरह हमारे धड़े ने बर्ख़ास्त मज़दूरों की ओर से चन्दाउगाही का आयोजन किया। साथ ही साथ, प्रावदा के लेखों के ज़रिये हमने उन फ़ैक्टरियों के मज़दूरों का, जिनमें "अनिश्चित काल के लिए" काम रोक दिया गया था, अपने मालिकान के ख़िलाफ़ बर्ख़ास्तगी के बदले पन्द्रह दिन की तनख़्वाह का मुक़द्दमा करने के लिए आह्वान किया। प्रावदा ने मज़दूरों को चेतावनी दी कि वे ध्यान दें कि प्रबन्धन अपनी भुगतान बहियों में "आगे मेरा कोई दावा नहीं बनता" की टिप्पणी न घुसेड़ने पायें। क्योंकि यदि असावधानीवश इस टिप्पणी पर दस्तख़त हो गये तो मज़दूर न्याय नहीं पा सकेंगे।

## अन्त्येष्टि पर प्रदर्शन

21 मार्च को नार्वा ज़िले में फिर से विरोध प्रदर्शन हुए और कई लोग गिरफ़्तार भी हुए। साथ ही, किसी बिजली स्टेशन पर हुए विस्फोट में मारे गये दो मज़दूरों की शवयात्रा के समय हुए एक और प्रदर्शन ने सेण्ट पीटर्सबर्ग के मज़दूरों के क्रान्तिकारी हौसले को साबित कर दिखाया। 3000 से अधिक मज़दूर शवयात्रा में शामिल हुए ताबूत पर बहुत-सी क्रान्तिकारी अभिलेखों युक्त मालाएँ रखी गयी थीं।

पुलिस की गहन निगरानी में मज़दूर ओबुखोव से प्रीओब्रेजेन्स्की क़ब्रगाह तक की अट्ठारह किमी लम्बी यात्रा की। और मज़दूरों को जुलूस में शामिल हो पाने से रोकने के लिए जुलूस के रास्ते में पड़ने वाले सभी कारख़ानों के गेटों पर घुड़सवार पुलिसियों की टुकड़ियाँ तैनात की गयी थीं। इसके बावजूद भीड़ लगातार बढ़ती गयी।

पिछले दिन मज़दूरों ने मुझसे अन्त्येष्टि में शामिल होने के लिए कहा था। मैं शामिल हुआ, और अभी ताबूत क़ब्र में उतारे ही जा रहे थे कि मैंने अपना भाषण शुरू कर दिया: "सेण्ट पीटर्सबर्ग के विशाल मज़दूर परिवार से नये शिकार नोंच लिये गये। पाषाण हृदय पूँजीवादी क्या हैं?" एक पुलिस निरीक्षक मेरे पास आया और मुझसे भाषण बन्द करने की माँग की, मैंने उसकी अनसुनी करके अपना भाषण जारी रखा: "निचोड़ देने वाली मेहनत, कारख़ानों में ख़तरनाक गैसें, असामयिक मौतें, और इन सबसे बढ़कर तालाबन्दियाँ – मज़दूर वर्ग की ज़िन्दगी ऐसी ही है। हाल-फ़िलहाल में बहुत-से मज़दूर पूँजीवाद की भेंट चढ़े हैं। विस्फोट, विषाक्तताएँ...."

मैं अपना वाक्य पूरा कर पाता, इससे पहले ही घुड़सवार पुलिसिए भीड़ में घुसकर चाबुक फटकारने लगे; भीड़ को बलपूर्वक पीछे ढलेक दिया गया, और वे क्रान्तिकारी अन्त्येष्टि गीत गाते हुए क़ब्रगाह से बाहर चले गये। कई सौ मज़दूर रेल से लौटे, और गाड़ी में क्रान्तिकारी गीत गाने के बाद उन्होंने मुझे सेण्ट पीटर्सबर्ग रेलवे स्टेशन पर अपने कन्धों पर उठा लिया और उठा कर चौक तक ले गये। चारों दिशाओं से पुलिस आ धमकी और भीड़ को तितर-बितर कर दिया।

मैं स्टेशन से सीधे दूमा पहुँचा जहाँ विषाक्तता पर स्थगित बहस में मुझे भाग लेना था। लेकिन वहाँ मैं अपना भाषण पूरा न कर सका। वहाँ रोड्ज़ियाँको ने उसी तरह रोक दिया जैसे क़ब्रगाह में पुलिस ने रोका था। ब्लैक हण्ड्रेड्स के बहुमत ने तय कर लिया था कि सामाजिक-लोकतान्त्रिक धड़े के जनप्रतिनिधियों को उस दिन बोलने नहीं दिया जायेगा। दूमा की अगली बैठक में भी इसी तरह का दृश्य उपस्थित हुआ। ब्लैक हण्ड्रेड्स में से सबसे खूँख़्वार, और नरमेधों के अगुआ ज़ेमिस्लोवस्की ने "ज़हर देने वालों की कमेटी" के ख़िलाफ़ ग़लत-सलत आरोप लगाने शुरू किये।

यह मामला सेण्ट पीटर्सबर्ग में इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि ब्लैक हण्ड्रेड की दूमा भी हमारे सवाल को ख़ारिज करने का साहस न कर सकी। मगर मालिकान हमलावर बने रहे। मज़दूरों को कुछ दिनों तक बेरोज़गार रखने के बाद तालाबन्दी उठा ली लेकिन कर्मचारियों को बहाल करते समय तमाम "अविश्वसनीय" और "परेशानी करने वाले तत्वों" को निकाल बाहर किया गया।

अनुवाद : **विजयप्रकाश सिंह**

# देश काग़ज़ पर बना नक्शा नहीं होता

यदि तुम्हारे घर के
एक कमरे में आग लगी हो
तो क्या तुम
दूसरे कमरे में सो सकते हो?
यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में
लाशें सड़ रहीं हों
तो क्या तुम
दूसरे कमरे में प्रार्थना कर सकते हो?
यदि हाँ
तो मुझे तुम से
कुछ नहीं कहना है।

देश कागज पर बना
नक्शा नहीं होता
कि एक हिस्से के फट जाने पर
बाकी हिस्से उसी तरह साबुत बने रहें
और नदियां, पर्वत, शहर, गांव
वैसे ही अपनी-अपनी जगह दिखें
अनमने रहें।
यदि तुम यह नहीं मानते
तो मुझे तुम्हारे साथ
नहीं रहना है।

इस दुनिया में
आदमी की जान से बड़ा
कुछ भी नहीं है
न ईश्वर
न ज्ञान
न चुनाव
कागज पर लिखी कोई भी इबारत
फाड़ी जा सकती है
और जमीन की सात परतों के भीतर
गाड़ी जा सकती है।

जो विवेक
खड़ा हो लाशों को टेक
वह अंधा है
जो शासन
चल रहा हो बंदूक की नली से
हत्यारों का धंधा है
यदि तुम यह नहीं मानते
तो मुझे
अब एक क्षण भी
तुम्हें नहीं सहना है।

याद रखो
एक बच्चे की हत्या
एक औरत की मौत
एक आदमी का
गोलियों से चिथड़ा तन
किसी शासन का ही नहीं
सम्पूर्ण राष्ट्र का है पतन।

ऐसा खून बहकर
धरती में जज्ब नहीं होता
आकाश में फहराते झंडों को
काला करता है।
जिस धरती पर
फौजी बूटों के निशान हों
और उन पर
लाशें गिर रही हों
वह धरती
यदि तुम्हारे खून में
आग बन कर नहीं दौड़ती
तो समझ लो
तुम बंजर हो गये हो-
तुम्हें यहां सांस लेने तक का
नहीं है अधिकार
तुम्हारे लिए नहीं रहा अब यह संसार।

आखिरी बात
बिल्कुल साफ
किसी हत्यारे को
कभी मत करो माफ
चाहे हो वह तुम्हारा यार
धर्म का ठेकेदार,
चाहे लोकतंत्र का
स्वनामधन्य पहरेदार।

**— सर्वेश्वर दयाल सक्सेना**

# फ़ासिस्ट झूठ-उत्पादन कारख़ाना और संघी साइबर गुण्डों के गाली-गलौज के बारे में कुछ बातें

**– कविता कृष्णपल्लवी**

यूट्यूब पर अगर बीजेपी आईटी सेल लिखकर खोजा जाये तो दर्जनों ऐसे वीडियो मिलेंगे जिनसे पता चलेगा कि किस तरह हज़ारों भाड़े के लोगों को बैठाकर भाजपा सैकड़ों फ़र्ज़ी वेबसाइट चलाती है (इनमें से कई भारतीय सेना के नाम पर हैं) और फ़ेसबुक, ट्विटर, व्हाट्सऐप आदि के ज़रिये अफ़वाहें और झूठी ख़बरें फैलाने का काम करती है। दिल्ली से लेकर छोटे शहरों तक 30,000 से लेकर 5-10 हज़ार रुपये पगार पर हज़ारों युवाओं को इस काम पर लगाया गया है और केन्द्रीय स्तर पर बड़ी आई.टी. कम्पनियों के विशेषज्ञों की भी सेवाएँ ली जाती हैं। भा.ज.पा. के आई.टी. सेल में काम कर चुके महावीर नाम के व्यक्ति ने ध्रुव राठी से इनकी पूरी कार्य-प्रणाली के बारे में विस्तार से बताया है। आल्ट न्यूज़ की वेबसाइट (Altnews.in) ज़रूर देखें और जानें कि फ़र्ज़ी ख़बरें और तस्वीरें किस तरह और कितने बड़े पैमाने पर हिन्दुत्व फैक्ट्री में तैयार की जाती हैं !

झूठी खबरों से उत्तेजना भड़काने वाली और अफ़वाहें फैलाने वाली संघ की प्रोपेगंडा फैक्ट्री जितने बड़े पैमाने पर नवीनतम आई.टी. तकनोलोजी का सहारा लेकर काम कर रही है, उसके आगे हिटलर के प्रचार मंत्री गोएबल्स की प्रचार मशीनरी भी बेहद छोटी और कम असरदार थी। कांग्रेस और अन्य बुर्जुआ पार्टियों के भी आई.टी.सेल हैं पर उनकी साइज़, ताक़त, विस्तार और प्रभाविता संघियों के आई.टी.सेल के आगे कुछ भी नहीं है ! गौरतलब है कि आई.टी. सेल के अतिरिक्त अपने कार्यकर्ताओं और समर्थकों और मोहल्ले-मोहल्ले तक फैले शाखाओं के नेटवर्क के ज़रिये काम करने वाली संघ की पारंपरिक प्रचार मशीनरी आज भी उसी प्रभाविता के साथ काम कर रही है।

ज़ाहिर है कि इस विकट अफ़वाह-तंत्र और उत्तेजना-भड़काऊ तंत्र को संगठित करने में पैसे की बहुत बड़ी भूमिका है, पर उससे भी बड़ी भूमिका मानव-उपादान की है। असाध्य ढाँचागत संकट से ग्रस्त जिस भारतीय पूँजीवाद ने राजनीतिक-सामजिक पटल पर धार्मिक कट्टरपंथी फ़ासिज़्म के इस विकट उभार को जन्म दिया है, उसी ने सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में उस गन्द भरे आत्मिक-सांस्कृतिक महागर्त का निर्माण किया है जिसमें आत्मा और शरीर पर संक्रामक बीमारियों के चकत्ते लिये पीले-बीमार चेहरों वाले मध्यवर्गीय कीड़े बिलबिला रहे हैं। इन कीड़ों को उग्र फ़ासिस्ट नारों की उत्तेजक नशीली खुराक से ही थोड़ा चैन मिलता है। सोशल मीडिया पर जो ट्रोल और साइबर गुण्डे लगातार आकर गाली-गलौज करते रहते हैं, ये सभी वेतनभोगी टट्टू नहीं हैं। इनमें से बहुतेरे ऐसे हैं जो अपनी ज़िन्दगी की निराशाओं-कुंठाओं-रुग्णताओं में जीते हुए और फ़ासिस्ट प्रचार की नियमित खुराक पर पलते हुए तर्क और विवेक की दुनिया से कोसों दूर जा चुके हैं। ये मनोरोगी किस्म के लोग तर्क, विवेक और सेक्युलर-लोकतांत्रिक मूल्यों की बात करने वालों से रोम-रोम से घृणा करते हैं, मुसलमानों से घृणा करते हैं, आज़ादख़याल स्त्रियों से घृणा करते हैं और उन मज़दूरों से घृणा करते हैं जो ग़ुलामों की तरह पीठ झुकाए जीने के बजाय अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाते हैं। जब भी ये भड़क कर उन्माद के रोगियों की तरह प्रलाप शुरू करते हैं तो इनके मुँह से निकालने वाली गालियाँ स्त्रियों के प्रति इनकी मनोरुग्णता को सरेआम उघाड़कर रख देती हैं। अपने रोज़मर्रा के जीवन में किसान भी अक्सर गालियाँ देते हैं, पर ये उनकी आदत-सी होती है जो उनके किसानी जीवन की उबाऊ गतिहीनता और प्रतिगामी सांस्कृतिक माहौल की देन होती है। किसान जब अपने बेटे को भी बेटी की गाली देता है तो उसके शब्दार्थ पर उसका दिमाग़ जाता ही नहीं। गालियाँ उसके लिए डाँटने, अपमानित करने और स्त्रियों और युवाओं को अपनी सत्ता का अहसास दिलाने का माध्यम होती हैं। लेकिन एक फ़ासिस्ट ज़हनियत का मध्यवर्गीय नागरिक जब यौन-हिंसा का अर्थ लिये हुए कोई गाली देता है तो वह शाब्दिक स्तर पर वह हिंसा स्वयं करने का, कल्पना में उसे जीने का रुग्ण परपीड़क आनन्द लेता है। फ़ासिस्ट जब अपने किसी विरोधी पर चुन-चुन कर और रच-रच कर गालियों और तमाम भद्दी बातों की बौछार करता है तो उसके राजनीतिक स्तर के हिसाब से यह उसके राजनीतिक संघर्ष का उच्चतम रूप होता है, और सांस्कृतिक-आत्मिक स्तर के हिसाब से, यह उसका उच्चतम कोटि का मनोरंजन होता है। उसके मनोरंजन का उच्चतम स्तर एक कामोन्माद के रोगी के आत्म-उत्तेजन और एक सड़क के कुत्ते के चरमसुख से अधिक कुछ नहीं हो सकता !

अब यह सवाल कि इन मनोरोगी, कटकटाये कुत्तों जैसे गुण्डों की भीड़ के पीछे चिकने-चुपड़े चेहरों वाले जो शान्तचित्त फ़ासिस्ट नीति-निर्धारक और रणनीतिशास्त्री बैठे हैं, दरअसल वे क्या सोचते हैं। पहली बात, फ़ासिस्ट नेता और बुद्धिजीवी भी विभाजित व्यक्तित्व और विकृत मानसिकता के लोग हुआ करते हैं। बुर्जुआ राजनीति की बाध्यताएँ उन्हें खुलकर गाली-गलौज की भाषा में बात नहीं करने देतीं, पर उनके भाड़े के टट्टू और छुटभैय्ये नेता जब गाली-गलौज और बेहद फूहड़-गन्दी बातें करते हैं तो यह चीज़ उन्हें भी एक किस्म की मानसिक तृप्ति और आत्मिक आनन्द देती है। भूलना नहीं चाहिए कि स्त्रियों को बर्बर, गन्दी गालियाँ देने वाले अनेक साइबर गुण्डों को ट्विटर पर नरेन्द्र मोदी ख़ुद फ़ॉलो करते हैं। हर गाली में फ़ासिस्ट को अपने विरोधी को पराभूत करने के साथ ही स्त्रियों को अपमानित करने और कुचलने का भी आनन्द मिलता है। इसीलिए, कह सकते हैं कि जो स्त्रियाँ फ़ासिस्टों की नेतृत्व मण्डली में स्थान हासिल करती हैं और उनकी वाहिनियों में पल्लू खोंसकर उन्मादी नारे लगाती हैं, वे दोनों ही अपने व्यक्तिगत इतिहास और वर्ग-पृष्ठभूमि के मिले-जुले कारणों से विघटित और विकृत स्त्री-चेतना वाली स्त्रियाँ होती हैं।

वैज्ञानिक आलोचना अपने सबसे तीखे रूप में भी आक्रामक तर्क के साथ साहित्यिक भाषा में विपक्ष पर प्रहार करती है, व्यंग्य करती है, उसपर चोट करती है, पर किसी भी सूरत में वह व्यक्तिगत गन्दे आक्षेपों और भद्दे-अश्लील, स्त्रियों और पूरी मानवता को अपमानित करने वाले गाली-गलौज तक नहीं उतर सकती। समाज में आप आम तौर पर देखेंगे कि अफ़वाहबाज़ी और गाली-गलौज पर आम तौर पर वही लोग उतारू होते हैं जो या तो वैज्ञानिक मनोवृत्ति के लोग नहीं होते, या फिर ऐसे फ़र्ज़ी भद्रपुरुष होते हैं जिनकी आलमारी में कंकाल बन्द रहते हैं। जैसे, मार्क्सवादी यह मानकर चलते हैं कि राजनीति और सिद्धान्त की बात छोड़कर जब भी कोई व्यक्तिगत आक्षेप और कुत्सा-प्रचार करता है, तो वह कोई भगोड़ा, पतित तत्व या स्टेट-एजेंट होता है। प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ चेतना का उन्नततम संगठित रूप होने के नाते, फ़ासिस्ट मानस की संरचना ही ऐसी होती है जो बुनियादी तौर पर वैज्ञानिक तर्कणा का ही विरोधी होता है। फ़ासिस्ट मानस किसी न किसी किस्म की 'फ़ेटिश' (अन्धभक्ति) की ख़ुराक पर जीता है। तर्क और तथ्य की बातें, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और इतिहास-बोध की बातें उसके तन-बदन में आग लगा देती हैं। फ़ासिस्ट बुद्धिजीवी के मिथ्याभासी तर्क गढ़े गये तथ्यों की बुनियाद पर खड़े होते हैं। अगर आप उसकी धारणाओं पर चोट करते हैं, तो, चूँकि वह तर्क कर ही नहीं सकता, इसलिए उसके सामने गाली-गलौज के सिवा कोई रास्ता बच ही नहीं जाता। उसका बस चले तो वह ऐसे तमाम लोगों की जान ले ले। लेकिन समस्या यह है कि एक रस्मी ही सही, लेकिन बुर्जुआ संसदीय प्रणाली में काम करने के चलते सारे तर्कशील बुद्धिजीवियों को दाभोलकर, पानसारे, कलबुर्गी, गौरी लंकेश की तरह मौत के घाट तो नहीं उतारा जा सकता। गाली-गलौज, मारपीट और आतंकित करने से, और सत्ता में होने पर क़ानूनी दबावों के द्वारा ही फ़ासिस्ट लक्ष्य पाने की कोशिश करेंगे। फिर अन्तिम विकल्प, यानी हत्या, तो हाथ में रहेगा ही।

फ़ासिस्ट सोचते हैं कि जब वे भद्दी-भद्दी गालियाँ सड़कों पर या सोशल मीडिया पर देंगे तो शरीफ़ नागरिक, और विशेषकर स्त्रियाँ, सकुचाकर, शरमाकर, हतोत्साहित होकर चुप लगा जायेंगी। इसका एकमात्र जवाब यह है कि उन्हें यह दो-टूक बता दिया जाये कि कुत्तों और मनोरोगियों से भला क्या शरमाना? कुकर्म करो तुम, मानसिक बीमार हो तुम, और शर्मायें हम? अगर वे बरखा दत्त, रवीश कुमार, स्वाति चतुर्वेदी, अभिसार आदि से लेकर साध्वी मीनू जैन और कविता कृष्णपल्लवी पर बेहद अश्लील टिप्पणियों और गालियों की बौछार करते हैं तो इन लोगों को नहीं, बल्कि शर्माना चाहिए सुषमा स्वराज,निर्मला सीतारमण, स्मृति ईरानी, हेमा मालिनी, वसुंधरा राजे आदि-आदि को, और ऐसी मनोरोगी औलादों के माँ-बाप को।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

## मोदी सरकार का अन्तिम बजट

# जुमलों की भरमार में मेहनतकशों के साथ ठगी का दस्तावेज़

**1 फ़रवरी को वित्त मन्त्री पीयूष गोयल ने 2019 के लिए अन्तरिम बजट पेश किया तो आगामी चुनाव के मद्देनज़र कोशिश उन तबक़ों में से कुछ को बड़े-बड़े जुमलों के ज़रिये लुभाने की थी जो मोदी शासन के साढ़े चार सालों की जनविरोधी नीतियों से बुरी तरह तकलीफ़ का शिकार हुए हैं। मगर थोड़ी गहराई से देखें तो उन्हें तो इससे मात्र नामचारे का ही कुछ फ़ायदा हुआ, मगर पूँजीपतियों और मोदी के सोचे-समझे सामाजिक आधारों में से एक उच्च मध्य वर्ग को कई वास्तविक फ़ायदे मिले।**

इस सरकार की नोटबन्दी और जीएसटी नीति से सबसे अधिक प्रभावित होने वालों में असंगठित क्षेत्र के मज़दूर व संगठित क्षेत्र के ठेका, कैजुअल श्रमिक थे। इन्हें बड़े पैमाने पर अपनी रोज़ी-रोटी से हाथ धोना पड़ा और इससे बढ़ी बेरोज़गारी से बहुत सारे श्रमिक रोज़गार के लिए बाज़ार में आ खड़े हुए जिससे एक और तो उन्हें रोज़गार बिल्कुल नहीं, या कम दिन मिलने लगा, साथ ही माँग-पूर्ति के नियम से उनकी मज़दूरी की दर भी घट गयी। इन असंगठित श्रमिकों को लुभाने के लिए बजट में इनके लिए 60 वर्ष की उम्र के बाद 3,000 रुपये महीना पेंशन की योजना का ऐलान किया गया है जो बीमा कम्पनियों के ज़रिये दी जायेगी। योजना के अनुसार, मज़दूर 18 से 40 साल की उम्र के बीच इस पेंशन के लिए पंजीकरण करा सकते हैं। 18 साल की उम्र वालों को इसके लिए 55 रुपये महीना जमा करना होगा, 29 साल से ज़्यादा उम्र हो तो 100 रुपये महीना और उम्र 40 हो तो 200 रुपये महीना। इससे अधिक उम्र के श्रमिक पंजीकरण नहीं करा सकते। जितनी रक़म ये जमा करायेंगे, उतनी ही सरकार भी इनके पेंशन खाते में जमा करायेगी। 60 साल की उम्र तक लगातार यह रक़म जमा करने पर उसके बाद 3,000 रुपये पेंशन मिलेगी।

स्पष्ट है कि **श्रमिकों को अभी कुछ नहीं मिलना है।** आज पंजीकरण कराने पर कम से कम इन्तज़ार 20 साल है। पहले तो समझा सकता है कि अनियमित आमदनी वाले असंगठित मज़दूरों के लिए 20 से 42 सालों तक हर महीने बीमा कम्पनी के पास किश्त जमा कराना ही लगभग नामुमकिन होगा। यह तो तुलनात्मक रूप से अधिक आय वालों के लिए भी बहुत मुश्किल होता है तथा बीमा कम्पनियों के लिए किश्त जमा कराना बीच में छोड़ देने वालों की छूट गयी जमा रक़म मुनाफ़े का एक अच्छा ज़रिया होती है। 20 से 42 वर्ष बाद 3,000 रुपये महीना की रक़म के दिवास्वप्न के लिए निरन्तर किश्त जमा कराना तो नामुमकिन ही है जबकि तब 3,000 रुपये की क्या क़ीमत होगी, वह बिल्कुल ही अनिश्चित है। दूसरे, 60 साल की उम्र के बाद तीन हज़ार रुपये मात्र की पेंशन का स्वप्न दिखाना ज़ाहिर करता है कि आने वाले वक़्त में भी सरकार के मुताबिक़ इनकी आय में कोई ख़ास वृद्धि नहीं होने वाली तभी तो 20 से 42 साल बाद भी सरकार को लगता है कि यह रक़म ललचाने वाली होगी।

लेकिन, सबसे बड़ी बात तो यह है कि असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों से हर महीने निश्चित रक़म वसूलने के बाद उन्हें 60 वर्ष की आयु के बाद पेंशन देने की बात ही इस सरकार द्वारा एक क्रूर मज़ाक़ के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। भारत में औसत जीवन प्रत्याशा ही 65 वर्ष के क़रीब है, और आज के दौर में 70-90 साल की उम्र तक तो अधिकांशतः सिर्फ़ खाता-पीता मध्यवर्ग और साधन-सम्पन्न लोग ही जी पाते हैं, जिनके पास निजी स्वास्थ्य सेवाएँ ख़रीदने की क्रय शक्ति है और जिनके शरीर ने असंगठित मज़दूरों की तरह जीवन-भर उस हाड़तोड़ श्रम का ताप नहीं झेला है, जो मज़दूरों की आयु के चौथाई हिस्से को खा जाता है। रही असंगठित मज़दूरों की बात, तो महानगरों में बेहद नारकीय हालत में जीने वाले, बीमारियों से भरपूर तंग झुग्गियों में रहने वाले, फ़ैक्टरियों में काम के बेहद कष्टकर व असुरक्षित वातावरण में बिना सुरक्षा उपकरणों के अपना श्रम बेचने वाले मज़दूर 52-55 साल से ज़्यादा तो बमुश्किल ही जी पाते हैं। कभी कोयला-लोहा खानों, भवन निर्माण, रबड़ फ़ैक्टरी, काँच फ़ैक्टरी, धातुओं की रोलिंग भट्ठियों, सफ़ाईकर्मियों, तेज़ाब व केमिकल की छोटी-छोटी इकाइयों में जाकर देखेंगे तो पायेंगे कि इनमें ठेका/दिहाड़ी पर कच्चे में खटने वाले मज़दूर, जिनके पास न पर्याप्त सुरक्षा उपकरण मुहैया हैं, न ईएसआई है, न हेल्थ कवर है, न निजी अस्पतालों तक पहुँच है, वे 50 की आयु भी बेहद कम ही पार करते हैं। **उनसे 60 साल के बाद पेंशन देने के नाम पर वसूली करने से घटिया मज़ाक़ उनके साथ हो नहीं सकता।**

**दूसरा ललचाने-भरमाने वाला ऐलान लघु-सीमान्त किसानों के लिए किया गया जिनकी ज़िन्दगी पिछले सालों में बेहद कंगाली की हालत में पहुँच गयी है।** इनकी छोटी जोतों में कम पूँजी के साथ ऊँची उत्पादन लागत पर की गयी खेती में हानि के अतिरिक्त कुछ हासिल नहीं होता। सही मायने में देखा जाये तो इन्हें इन छोटे खेतों में लगायी-खपायी गयी अपनी श्रम शक्ति के बाज़ार मूल्य के बराबर आय भी नहीं होती। मगर आज की भयंकर बेरोज़गारी की स्थिति में खेती छोड़कर मज़दूरी ही कर लेने का विकल्प भी खुला नहीं रह गया है। बड़ी तादाद में इनके उस रास्ते पर जाने और

**– मुकेश असीम**

रोज़गार की माँग करने से बचने के लिए सरकार इन्हें उनकी मौजूदा तंगहाल-बदहाल ज़िन्दगी में ही फँसे रहकर कुछ सुधार का लालच दिखा रही है। इसके अन्तर्गत 2 हेक्टेयर अर्थात 5 एकड़ से कम ज़मीन के मालिकों को सरकार किसान सम्मान निधि के नाम पर साल में 3 बार दो हज़ार रुपये अर्थात 6 हज़ार रुपये सालाना देगी अर्थात 5 सौ रुपये महीने।

किन्तु विभिन्न सर्वेक्षणों के अनुसार गाँवों की लगभग 54% आबादी तो भूमिहीन सर्वहारा है। 'सम्मान निधि' में मिलने में तो उनके लिए कुछ नहीं है पर इस 6 हज़ार के बदले में जो बन्द होगा - शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि पर ख़र्च में कटौती - उससे सबसे ज़्यादा पीड़ित तो वही होंगे। सीमान्त-ग़रीब किसान को भी 6 हज़ार सालाना से हासिल कुछ नहीं होगा। वास्तविकता यही है कि इससे सीमान्त-ग़रीब किसानों के जीवन में आने वाली बदहाली-बरबादी भी रुक नहीं सकती। ज़मीन के इन छोटे-छोटे टुकड़ों में खेती किसी हालत में भी लाभकारी नहीं बन सकती। इस तबक़े का हित गाँव-शहर के श्रमिक वर्ग के साथ एकता क़ायम कर रोज़गार, न्यूनतम मज़दूरी में वृद्धि, श्रमिक अधिकारों, सार्वजनिक शिक्षा-स्वास्थ्य-आवास-यातायात की व्यवस्था, आदि के लिए संघर्ष में ही है। पूँजीवादी व्यवस्था के लिए सबसे बड़ा ख़तरा इस बरबाद होती 85% लघु-सीमान्त किसान आबादी का श्रमिक वर्ग के साथ एकजुट होकर इन अधिकारों के लिए संघर्ष के लिए खड़े हो जाना ही है। इनके लिए रोज़गार की कोई व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था में मुमकिन नहीं रह गयी है। इस 'सम्मान निधि' में 500 रुपये महीना का एक टुकड़ा फेंककर इन सीमान्त-ग़रीब किसानों और खेतिहर श्रमिकों के बीच भी दीवार खड़ी करने का प्रयास है। इन्हें बताया जा रहा है कि वह तो श्रमिक नहीं ज़मीन का मालिक है, सरकार उसकी मदद करेगी, उसे लाभ पहुँचायेगी, उसके लिए इसी व्यवस्था में जीवन में सुधार और सम्मान की सम्भावना है। वह रोज़गार एवं मज़दूरी के सवालों पर श्रमिक वर्ग के साथ एकजुट न हो बल्कि अपने शोषक कुलकों-फ़ार्मरों के पीछे लाभकारी खेती और डेढ़ गुना एमएसपी की मृगमरीचिका में ही उलझा रहे।

यहाँ एक मार्के की बात हमारे देश के भोंपू मीडिया और टुकड़खोर अर्थविशेषज्ञों की प्रतिभा और मानसिकता पर। पीयूष गोयल ने अपने भाषण में इस 'सम्मान-निधि' से 12.5 करोड़ किसानों को फ़ायदे की बात कही, और पूरे मीडिया और 'विशेषज्ञ' अभी तक वही दोहराते आ रहे हैं। लेकिन दो हज़ार वाली पहली किश्त के लिए पीयूष गोयल ने मात्र 20 हज़ार करोड़ का बजट प्रावधान किया है। अब इस राशि में दो हज़ार रुपये अधिकतम 10 करोड़ व्यक्तियों को ही मिलना मुमकिन है, मगर बग़ैर कोई सवाल पूछे संख्या में पूरे 25% का झूठा इज़ाफ़ा कर दिया गया है जबकि यह हिसाब लगा पाना इनमें से किसी के लिए भी क़तई मुश्किल नहीं। यह बताता है कि हमारे देश के मीडिया और अकादमिक जगत में गिरे हुए टुकड़खोरों की कितनी बड़ी जमात इकट्ठा हो गयी है जो कुछ टुकड़े पाने के लालच में सरकार तथा पूँजीपतियों के लिए किसी भी हद तक झूठा प्रचार कर सकते हैं, और आम मेहनतकश जनता को इनके द्वारा प्रचारित किसी भी बात को बिना तर्क-सवाल के कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

जहाँ तक अभी **देश की मेहनतकश जनता के सामने मौजूद सबसे बड़ी समस्याओं में से एक बेरोज़गारी का सवाल है, उसके लिए बजट में कुछ बताया ही नहीं गया।** बस मुद्रा लोन से स्वरोज़गार का ज़िक्र किया गया। बजट भाषण के अनुसार अब तक मोदी ने 7,53,000 करोड़ रुपये के 5 करोड़ 56 लाख मुद्रा लोन बँटवाये हैं। उनका कहना है कि मुद्रा लोन लेने वाले स्वाभिमानी होते हैं, रोज़गार माँगते नहीं, रोज़गार प्रदाता बन जाते हैं। इसलिए उनकी बात को ही पूरा सच मानकर हिसाब लगाते हैं।

इस हिसाब से मुद्रा लोन लेने वाले ख़ुद तो रोज़गार से लगे ही हैं, इसलिए साढ़े 15 करोड़ रोज़गार तो यही हो गये। अगर इनमें से हरेक ने औसत सिर्फ़ एक व्यक्ति को ही रोज़गार दिया हो तो साढ़े 15 करोड़ वो भी हुए। अर्थात कुल मिलाकर 31 करोड़ रोज़गार सिर्फ़ मुद्रा लोन से ही सृजित हुए जबकि मोदी ने सिर्फ़ 2 करोड़ रोज़गार का वादा किया था। कमाल का विकास है ना! लेकिन उधर **ख़ुद सरकारी एनएसएसओ का सर्वेक्षण बता रहा है कि बेरोज़गारी 45 साल के उच्चतम स्तर पर है। सीएमआईई के अनुसार पिछले साल 1 करोड़ 10 लाख रोज़गार नष्ट हो गये।**

तीसरा बड़ा ऐलान 2.5 लाख से 5 लाख रुपये सालाना आमदनी वाले निम्न मध्यवर्ग के लिए किया गया। इन्हें 10 हज़ार रुपये की आयकर छूट दी गयी है – अर्थात 833 रुपये महीना का फ़ायदा। ये टटपूँजिया वर्ग है जो नोटबन्दी-जीएसटी के बाद से प्रतियोगिता में इजारेदार पूँजीपतियों के मुक़ाबले कमज़ोर पड़ा है और बरबाद होकर सर्वहारा-अर्धसर्वहारा बनने की आशंका से जूझ रहा है। क्रान्तिकारी राजनीतिक दिशा के अभाव में यह पिछले सालों में फासिस्ट समूहों का बड़ा आधार रहा है किन्तु इसकी आर्थिक दिक़्क़तों और बढ़ती बेरोज़गारी ने इसे असन्तुष्ट भी किया है जिसे शान्त करने की चाह में यह फ़ायदा दिया गया है।

लेकिन बड़ा फ़ायदा किन्हें मिला? जिनके पास दो करोड़ रुपये तक के मुनाफ़े पर बिक सकने वाला घर या दूसरी कमर्शियल सम्पत्ति है, उन्हें इस लाभ पर आयकर में छूट का सबसे ज़्यादा लाभ दिया गया है। उच्च मध्यम वर्ग के लिए सम्पत्ति और मकान किराये पर टीडीएस प्रावधानों में ढील के ज़रिये प्रत्यक्ष करों में चोरी की गुंजाइश बढ़ा दी गयी है। पिछले सालों में मकान ख़रीदने से हिचक रहे लोगों को फिर से सम्पत्ति में निवेश के लिए प्रोत्साहित करने एवं मकानों और अन्य रियल एस्टेट के दाम बढ़ाकर अर्थव्यवस्था में तेज़ी का साफ़ प्रयास नज़र आता है। आख़िर सम्पत्ति और शेयर बाज़ार में सट्टेबाजी ही तो वो चीज़ है जो आजकल पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में बीच-बीच में चमक लाती रहती है। बजट के बाद 7 फ़रवरी को ही रिज़र्व बैंक द्वारा ब्याज़ दरों में कटौती के द्वारा भी यही प्रयास किया गया। किन्तु ब्याज़ दरें घटाकर पूँजीपति व मध्य वर्ग में जोश पैदा कर अर्थव्यवस्था को संकट से निकालने की यह कोशिश वो एक दिन में ही टाँय-टाँय फिस्स हो गयी। ब्याज़ दरें घटाने का मक़सद होता है - एक, क़र्ज़ लेकर ख़रीदारी के लिए प्रोत्साहित कर बाज़ार में माँग बढ़ाना, ख़ास तौर पर मकानों, कारों, आदि की। दो, मुनाफ़े की कम होती दर से जूझ रहे पूँजीपतियों के लिए ऋण पूँजी की लागत कम करना क्योंकि श्रमिकों की श्रम शक्ति से जितना अधिशेष पूँजीपति हासिल करते हैं उसमें से ही एक हिस्सा उन्हें ऋण पूँजी पर ब्याज़ के रूप में बैंक के वित्तीय पूँजीपतियों को देना पड़ता है।

इसमें से पहला मक़सद तो इसलिए पूरा नहीं होगा क्योंकि रोज़गार सृजन व आय में वृद्धि की सम्भावनाओं के अभाव में सिर्फ़ ब्याज़ दर कम होने से ही लोग क़र्ज़ नहीं लेने लगते।

जहाँ तक पूँजीपतियों का सवाल है पिछले 30 साल में क़र्ज़ लेकर जो भारी पूँजी निवेश उन्होंने अचल पूँजी (ज़मीन, इमारतों, मशीन, तकनीक, आदि) में किया, बिक्री उसके मुक़ाबले उतनी बढ़ी नहीं, बल्कि स्थापित क्षमता से बहुत नीचे (70-72% ही) उत्पादन से मुनाफ़े की दर बहुत नीचे आ गयी। निफ्टी में जो सबसे बड़ी 50 कम्पनियाँ हैं उनकी निवेश की गयी पूँजी पर मुनाफ़ा दर 2007 में 23.1% थी, 2015 में यह 15.5% हो गयी, 2017 में 13.6% पर आयी और 2018 में 12.9% ही रह गयी। ये तो सबसे बड़े पूँजीपतियों का हाल है, अगर छोटी-मझोली कम्पनियों को देखें तो उनकी पूँजी पर मुनाफ़ा दर 5-6% तक आ पहुँची है! यही वजह है कि पूँजीपतियों का एक हिस्सा अपने क़र्ज़ का ब्याज़ और किश्त जमा करने

**(पेज 2 पर जारी)**

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006